विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
वर्ष ३२
अंक ३
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर
★ १९९४ ★

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)
दूरभाष : २५२६९

एक अपील

रामकृष्ण मठ
पो. बेलुड़ मठ, जिला - हावड़ा
(पश्चिमी बंगाल) ७११ २०२

यह घोषित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि रामकृष्ण मठ तथा मिशन, बेलुड़ मठ के पुराने मुख्यालय भवन में एक पुराभिलेखागार आरम्भ किया गया है। उसी भवन में एक संग्रहालय की भी स्थापना होगी, जो निकट भविष्य में जनता के परिदर्शनार्थ खोल दिया जाएगा।

इस संग्रहालय में श्रीरामकृष्ण, माँ सारदादेवी, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य शिष्यों द्वारा उपयोग में लाये हुए वस्त्र, घड़ियाँ, जूते आदि और साथ ही उनके पत्र, लेखों की पाण्डुलिपियाँ, व्यक्तिगत डायरियाँ, पुस्तकें तथा उन्हें समर्पित मानपत्र आदि संरक्षित किए जाएँगे। इसमें हम माँ सारदादेवी तथा श्रीरामकृष्ण-शिष्यों के पदचिह्न भी रखना चाहेंगे।

जिन भक्तों या मित्रों के पास किसी भी प्रकार की कोई सामग्री हो, उनसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि वे उन्हें बेलुड़ मठ के अधिकारियों को सौंप दें, ताकि वैज्ञानिक पद्धति से उन्हें संरक्षित करने के पश्चात वर्तमान तथा भविष्य में शताब्दियों तक आनेवाली पीढ़ियों के भक्तों तथा जनता के लाभार्थ उनका प्रदर्शन किया जा सके।

२६-१-१९९४

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव

अनुक्रमणिका

कम्पोजिंग : लेजरपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकरनगर रोड, रायपुर

मुद्रण : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंग नगर, रायपुर

आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३२) जुलाई-अगस्त-सितम्बर (अंक ३

✡ १९९४ ✡

जीवन की क्षणभंगुरता

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारि तरंग चंचल तरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥

मनुष्य की आयु सौ वर्ष तक सीमित है, जसका आधा तो रात में निद्रावस्था में बीत जाता है, बचे हुए आधे का भी आधा भाग बचपन तथा बुढ़ापे में बीतता है, शेष (चौथाई) भाग भी रोग, वियोग आदि के साथ दूसरों की सेवा (अधीनता) में । प्राणियों को सुख भला कहाँ मिल सकता है ?

भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' - ४९

अब जाग रही....

'मधुप'

(सिंधुभैरवी - कहरवा)

अब जाग रही भारत जननी।
अवसानप्राय दुःखमय रजनी ॥

छा रही अरुणिमा पूरब में
चेतना जागती है सब में,
बज रही रागिनी मधु स्वर में
आनन्दमगन अम्बर अवनी ॥अब.॥

गहरी निद्रा में सोई थी
झूठे सपनों में खोई थी,
पर अब तन्द्रा-आलस तजकर
वह खोल रही पलकें अपनी ॥अब.॥

निज गौरव में मण्डित होकर
माँ बैठेगी सिंहासन पर,
चिर दिन तक राज्य करेगी वह
राष्ट्रों में महिमामहिम बनी ॥अब.॥

है भोगवाद में लिप्त विश्व
युद्धोन्माद में भ्रमित निःस्व
वेदों की अमृतवाणी सुन
फिर शान्तिमयी होगी धरणी ॥अब.॥

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका
११ जुलाई, १८९४

प्रिय आलासिंगा,

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो के अलावा और कहीं भी तुम मुझे कभी भी पत्र न भेजना। तुम्हारा आखिरी पत्र सारे देश का चक्कर लगाकर फिर मेरे पास पहुँचा और वह भी इसलिए कि यहाँ पर सभी लोग मुझे अच्छी तरह जानते हैं। सभा के प्रस्ताव की कुछ प्रतिलिपियाँ डॉ. बरोज के भेजना, साथ ही मेरे प्रति किये गये सदय व्यवहार के लिए उन्हे धन्यवाद देकर एक पत्र भी लिखना तथा अमेरिका की पत्रिकाओं में यह समाचार प्रकाशित करने के लिए उनसे अनुरोध करना, इस:से मिशनरी लोग मुझ पर यह जो मिथ्या लांछन लगा रहे हैं कि मैं किसी का प्रतिनिधि नहीं हूँ, उसका समुचित खंडन हो जायगा। मेरे बच्चे, कार्य किस तरह करना चाहिए, इस बात की शिक्षा ग्रहण करो ! अभी हमें बड़े बड़े काम करने हैं। गत वर्ष मैंने केवल बीज बोया था, इस वर्ष मैं फसल काटना चाहता हूँ। इस अरसे में भारत में जहाँ तक हो सके, उत्साह की भावना को शिथिल न होने दो। किडी को उसके अपने रास्ते पर चलने दो, समय आने पर वह ठीक रास्ते पर आ जायगा। मैंने उसका जिम्मा ले रखा है। अपने रास्ते पर चलने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है। उससे पत्रिका में लिखने के लिए कहो, इससे उसका मन ठीक रहेगा। उसे मेरा आशीर्वाद कहना।

पत्रिका का शुभारम्भ करो – मैं बीच बीच में लेखादि भेजता रहूँगा। बोस्टन के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापक जे. एच. राइट को प्रस्ताव की एक प्रतिलिपि भेजना, साथ ही पत्र में

इस बात का उल्लेख कर उन्हें धन्यवाद देना कि वे ही अमेरिका में सर्वप्रथम व्यक्ति है, जिन्होंने मुझे मित्र के रूप में ग्रहण किया था तथा उनसे यह समाचार पत्रिकाओं में प्रकाशित करने के लिए भी अनुरोध करना। इससे मिशनरी झूठे साबित हो जाएँगे। डिट्रॉएट के भाषण में मुझे ९०० डालर अर्थात् २७०० रुपये मिले हैं। अन्य भाषणों में से एक में एक घंटे के अन्दर मैंने २,५०० डालर अर्थात् ७५०० रुपये कमाये, परन्तु मुझे सिर्फ २०० डालर ही मिले। एक दगाबाज भाषण कम्पनी ने मुझे धोखा दिया था। अब मैंने उनका साथ छोड़ दिया है। यहाँ पर मैंने बहुत सारा खर्च किया है। सिर्फ ३००० डालर के लगभग बचे हैं।

आगामी वर्ष मुझे बहुत कुछ छपवाना है। अब मेरा विचार नियमित रूप से कार्य करने का है। कलकत्ते में यह लिख देना कि मेरे तथा मेरे कार्य के बारे में वहाँ की पत्रिकाओं में जो भी कुछ प्रकाशित हो, उसे वे लोग यहाँ भेजते रहे। तुम भी एक आन्दोलन जारी रखो। एकमात्र 'इच्छा-शक्ति' के द्वारा सब कुछ हो जायगा। पत्रिका प्रकाशन के तथा अन्य खर्चों के लिए तुम लोगों को बीच बीच में पैसे भेजने की मैं चेष्टा करूँगा। एक समिति को संगठित करो, जिसके अधिवेशन नियमित रूप से होते रहें। और जहाँ तक हो सके, इसके बारे में मुझे लिखते रहो। मैं भी नियमित रूप से कार्य करने का प्रयास कर रहा हूँ। इस वर्ष अर्थात् आगामी जाड़े में मुझे काफी रुपये जुटाने ही पड़ेंगे – इसलिए तब तक मैं इंतजार करूँगा। तुम आगे बढ़ते रहो। श्री पॉल केरस को भी एक पत्र देना, यद्यपि वे मेरे मित्र ही हैं, फिर भी हम लोगों के लिए उनसे काम कराने की चेष्टा करना। वस्तुतः तुम से जितना हो सके आन्दोलन शुरू कर दो। सिर्फ झूठ से बचो। काम में लग जाओ, मेरे बच्चो, उत्साहाग्नि तुममें स्वयं प्रज्वलित हो उठेगी। श्रीमती जी. डब्ल्यू. हेल मेरी परम हितैषिणी हैं – मैं उनको माता तथा उनकी

कन्याओं को भगिनी कहता हूँ। उनको भी प्रस्ताव की एक प्रतिलिपि भेज देना तथा अपनी ओर से एक पत्र लिखकर उन्हें धन्यवाद देना। संगठन की शक्ति का हमारी प्रकृति में पूर्णतया अभाव है, उसका विकास करना होगा। इसका सबसे बड़ा रहस्य है – ईर्ष्या का अभाव होना। अपने भाइयों के विचारों को मान लेने के लिए सदैव प्रस्तुत रहो और उनसे हमेशा मेल बनाये रखने की कोशिश करो। यही सारा रहस्य है। बहादुरी से लड़ते रहो। जीवन क्षणस्थायी है। इसे एक महान् उद्देश्य के लिए समर्पित कर दो।

नरसिंह के सम्बन्ध में तुम मुझे कुछ भी लिखते क्यों नहीं ? वह तो करीब करीब भूखों ही मर रहा है। मैंने उसे कुछ दिया, फिर वह कहीं चला गया, न मालूम कहाँ और वह पत्र भी नहीं लिखता। अक्षय एक अच्छा लड़का है, उसके प्रति मेरा विशेष स्नेह है। थियोसॉफिस्टों के साथ विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हें जो कुछ लिखता हूँ, उनसे जाकर न कहना। मूर्ख, क्या तुम्हें मालूम है कि थियोसॉफिस्ट ही हमारे पथिकृत हैं ? जार्ज[1] हिन्दू हैं और कर्नल ऑल्काट बौद्ध हैं। जार्ज यहाँ के योग्यतम व्यक्ति हैं। हिन्दू थियोसॉफिस्टों से जार्ज का समर्थन करने के लिए कहना। तुम उन्हें एक सम-धर्मावलम्बी होने के नाते हिन्दू धर्म को अमेरिका के लोगों के आगे उपस्थापित करने के लिए धन्यवाद देकर एक पत्र भी लिखोगे तो उनका हृदय प्रफुल्लित हो उठेगा। किसी सम्प्रदाय विशेष में हम सम्मिलित नहीं होंगे, लेकिन प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति हमारी सहानुभूति रहेगी तथा हम सबके साथ मिल-जुलकर काम करेंगे।

यह स्मरण रखना कि मैं इस समय बराबर भ्रमण कर रहा हूँ इसलिये ५४१ डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो मेरा प्रधान केन्द्र है। सदा इसी पते पर मुझे पत्र लिखना तथा भारत में जो कुछ हो

---

१ ये अमेरिकन थियोसॉफिकल सोसाइटी के अध्यक्ष थे।

रहा है, उसका पूरा पूरा विवरण मुझे भेजते रहना, साथ ही पत्रिकाओं में हम लोगों के सम्बन्ध में जो भी कुछ प्रकाशित हो उसका कोई भी अंश, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, मुझे भेजने में किसी प्रकार की भूल न करना। जी. जी. का एक सुन्दर पत्र मुझे मिला है – प्रभु ऐसे सुन्दर, सच्चरित्र युवकों का कल्याण करें। बालाजी, सेक्रेटरी तथा हमारे अन्य बन्धुओं से मेरा प्यार कहना। निरन्तर कार्य करते रहो, अपने प्रेम के द्वारा सब पर विजय प्राप्त करो। मैंने मैसूर के राजा साहब को एक पत्र लिखा है तथा कुछ फोटो भेजे हैं। आशा है, अब तक तुम लोगों को मेरे भेजे हुए फोटो मिल गये होंगे। एक रामनाद के राजा को उपहार में दे देना। उन्हें प्रभावित करने का जहाँ तक हो सके, प्रयास करते रहना। खेतड़ी के साथ सदा पत्र-व्यवहार करते रहना। कार्य-क्षेत्र के विस्तार के लिए प्रयत्न करते रहो। यह ध्यान रखना कि गति तथा उन्नति ही जीवन के चिह्न हैं।

तुम्हारा पत्र मिलने में विलम्ब होने के कारण मैं प्रायः निराश हो चुका था, अब पता चला कि तुम्हारी निर्बुद्धिता ही इसका एकमात्र कारण है। बात यह है कि मैं बराबर भ्रमण कर रहा हूँ, इसलिए चिट्ठियों को मुझे ढूँढ निकालना पड़ता है। फिर याद रखो कि सभी कार्य आधिकारिक ढंग पर होना आवश्यक है। जो प्रस्ताव सभा में स्वीकृत हो चुके हों, उनको शिकागो धर्म-महासभा के सभापति, डॉ. जे. एच. बरोज को अवश्य भेजो तथा उनसे इसे, तथा उन पेपरों और चिट्ठियों को समाचार-पत्रों में प्रकाशनार्थ अनुरोध करो।

डॉ. बरोज तथा डॉ. पॉल केरस से भी, ये अनुरोध आधिकारिक होंगे। विश्व-महामेला के सभापति मिशिगन के डेट्रायट शहर के सेनेटर पामर को भी प्रस्तावों की एक प्रतिलिपि भेजो – मुझ पर उनकी बड़ी अनुकम्पा रही है। इस प्रकार का

एक पत्र तथा प्रस्ताव की प्रतिलिपि डेट्रायट के वाशिंग्टन एवेन्यु की श्रीमती जे. जे. बैग्ली के पते पर भेजो तथा उनसे भी उसे पत्रिकाओं में प्रकाशित करने के लिए अनुरोध करो। पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेज देना कोई बड़ी बात नहीं हैं, असलियत यह है कि उन्हें बाकायदे डॉ. बरोज जैसे आधिकारिक व्यक्तियों के माध्यम से आना चाहिए। तभी वे प्रामाणिक माने जायेंगे। डॉ. बरोज के पास उन्हें भेज देना तथा उनसे उन्हें समाचार-पत्रादि में छपवाने के लिए अनुरोध करना यही सबसे आधिकारिक तरीका है। मैं यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि मेरा ख्याल है कि विदेशी राष्ट्रों की कार्यप्रणाली से तुम परिचित नहीं हो। अब अगर कलकत्ते के बड़े बड़े लोगों के नामों के साथ ऐसे प्रस्तावादि आने लगें, तो फिर मुझे, जैसे अमेरिका के लोग कहते हैं, 'बूम' (boom) मिलने लगेगा और इससे मुझे अत्यधिक सहायता मिलने लगेगी। तब यहाँ के लोगों को भी यह विश्वास हो जायगा कि मैं यथार्थ में हिन्दुओं का ही प्रतिनिधि हूँ और तभी वे अपनी गाँठ से पैसे निकालेंगे। धैर्य के साथ लगे रहो। अब तक हम लोगों ने बड़ा ही अद्‌भुत कार्य किया है। वीरो, बढ़े चलो, निश्चित हम विजयी होंगे। मद्रास की पत्रिका का क्या हुआ ? संगठित होकर सभा-समिति स्थापित करते रहो – काम में जा लगो – यही एकमात्र उपाय है। किडी से लेख लिखाओ, इसी से उसका मिजाज ठीक रहेगा। इस समय भाषण अधिक नहीं देना है, अतः अब मैं लिखना शुरू करूँगा। यद्यपि सर्वदा ही मुझे कठिन कार्यों में लगा रहना पड़ेगा, किन्तु जाड़े की ऋतु आने पर लोग जब अपने घर लौटेंगे, तब पुनः मैं भाषण देना शुरू करूँगा तथा इस बार सभा-समिति स्थापित करने में जुट जाऊँगा।

सबको मेरा प्यार तथा आशीर्वाद कहना। यद्यपि मैं जल्दी-जल्दी पत्र नहीं लिखता, पर मैं किसी को भूलता नहीं हूँ।

दूसरे, इधर मैं लगातार यात्रा भी कर रहा हूँ और इससे चिट्ठियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना पड़ता है।

खूब परिश्रम करते रहो तथा पवित्र एवं शुद्ध बनो – उत्साहाग्नि स्वतः ही प्रज्ज्वलित हो उठेगी।

शुभाकांक्षी

विवेकानन्द

चिन्तन-१८

समय की पाबन्दी

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है -स.)

मेरे एक मित्र हैं। समय के बड़े पाबन्द हैं। आज एक सफल उद्योगपति हैं। पहले शिक्षक थे। वे अपनी सफलता का श्रेय समय की पाबन्दी को देते हैं। एक बार उन्होंने किसी उच्चाधिकारी से मिलने का समय लिया था। जिस समय उन्हें मिलने जाना था, उस समय घनघोर वर्षा हो रही थी। स्वाभाविक ही किसी का भी मन कहता कि बाद में मिल लेंगे, अभी ही मिलना उतना जरूरी नहीं है, फिर अधिकारी महोदय भी तो विवशता समझ ही लेंगे। पर नहीं, उन्होंने मन को कोई बहानेबाजी नहीं करने दी और उस भयंकर वर्षा में भीगते हुए वे समय पर ही मिलने के लिए पहुँच गये। अधिकारी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, पर साथ ही उन्हें प्रसन्नता भी हुई कि कम से कम एक व्यक्ति तो उन्होंने देखा, जो समय का इतना पाबन्द था। बस, उन्होंने मेरे मित्र का काम तुरन्त कर दिया और

तब से वे एक-एक करके सफलता के सोपानों पर चढ़ते गये।

समय की पाबन्दी जीवन के सभी क्षेत्रों में काम की है। यदि हम समय पर उठने, सोने, खाने-पीने और अपने काम-काज करने की आदत डालें, तो हम महानता प्राप्त करने की ओर एक सार्थक कदम उठा सकते हैं। इसके द्वारा अल्प समय में अधिक कार्य करने की क्षमता पैदा होती है। संसार में जिन व्यक्तियों ने महानता अर्जित की है, उनमें से अधिकांश का जीवन समय की पाबन्दी की एक सुन्दर गाथा रहा है। महात्मा गाँधी इसके ज्वलन्त उदाहरण रहे हैं। उनकी समय की पाबन्दी के बहुत से किस्से हैं, जो यही दर्शाते हैं कि उन्होंने अपने जीवन की क्रियाओं को किस प्रकार समय के द्वारा नियंत्रित कर लिया था।

प्रत्येक व्यक्ति बड़ा तो बनना चाहता है, पर उसके लिए वह किसी प्रकार की साधना नहीं करना चाहता। छल-बल या धन के जोर पर किसी को बड़प्पन नहीं मिला करता। जो मिला-सा दिखायी भी देता है, वह बालू की नींव पर बने मकान के समान तनिक से आघात से ढह जाता है। सच्चा बड़प्पन बाधाओं में तपकर और निखरता है। ऐसा बड़प्पन प्राप्त करने का प्रथम सोपान है समय की उपासना।

समय की उपासना हमारे आलस्य और जड़ता को दूर करती है, तमोगुण के आधिक्य को काटती है और हमारी बुद्धि को सतेज बनाती हैं। बहुधा देखा जाता है कि यदि समय पर काम न हो, तो काम टल जाता है और हम दीर्घसूत्रता के शिकार हो जाते हैं। कहा जाता है कि विश्वविजेता नेपोलियन एक मिनट के विलम्ब से पहुँचने के कारण वाटरलू में पराजित हो गया था।

जो समय की कीमत नहीं समझता, वह वास्तव में मानव-जीवन का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता। ऐसे व्यक्ति के

लिए जीवन में कोई उद्देश्य या लक्ष्य नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह पशुओं से किसी भी प्रकार उच्चतर जीवन नहीं बिताता। पशु काल की गणना नहीं करता और इसलिए उसमें काल का आयाम नहीं होता। पर मनुष्य काल की गणना करता है और इसलिए वह उसे पकड़ भी सकता है। काल की पकड़ का पहला कदम है समय की पाबन्दी।

धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में भी समय की पाबन्दी अनिवार्य बतायी गयी है। यदि मैं साधना के क्षेत्र में पदार्पण करने का इच्छुक हूँ, तो निश्चित समय पर प्रतिदिन की साधना शीघ्रतर फलवती होती है। कुछ लोग पूछते हैं कि समय की निश्चितता पर इतना जोर क्यों ? इसका उत्तर यह है कि कोई काम यदि रोज एक निश्चित समय पर किया जाय, तो ठीक उस समय हमारा मन उस कार्य की ओर अपने आप उन्मुख होने लगेगा। उदाहरणार्थ, यदि मुझे ४ बजे अपराह्न चाय पीने की आदत है, तो ४ बजते ही मेरे मन में चाय की इच्छा जागृत हो जायगी। यही तर्क निश्चित समय में साधना करने या अन्य कोई काम करने पर भी लागू होता है। इससे हमारा मन अधिक एकाग्र हो जाता है और उसकी छिपी हुई क्षमता अधिकाधिक प्रकट होती है।

समय की पाबन्दी वस्तुतः मन के केन्द्रीकरण का अभ्यास है। मन में असीम सम्भावनाएँ निहित हैं। इन सम्भावनाओं को प्रकट करने का साधन मन का केन्द्रीकरण ही है। समय की पाबन्दी का अभ्यास पहले-पहल कष्टप्रद मालूम होता है, पर धैर्यपूर्वक यदि कोई इसे साध लेता है, तो विश्व उसके लिए अपना खजाना खोल देता है।

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(छियालीसवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़ागाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। हम भी इसे क्रमशः यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

अहैतुकी भक्ति

श्यामपुकुर के मकान में श्रीरामकृष्ण उपस्थित भक्तों को समझा रहें हैं कि अहैतुकी भक्ति क्या है। इस भक्ति में भक्त को एकमात्र भगवान ही काम्य हैं। अन्य कामना-मिश्रित भक्ति शुद्धा भक्ति नहीं है। श्रीरामकृष्ण ने अहल्या तथा नारद का दृष्टान्त दिया। कहा, "केवल ईश्वर का दर्शन ही चाहते हैं, धन, मान, देहसुख आदि कुछ भी नहीं चाहते। इसी का नाम शुद्धाभक्ति है।"

इस सम्बन्ध में शास्त्र में विचार करके कहा गया है कि विषय हमें प्रिय है, इसलिए हम उससे प्रेम करते हैं। घर अपना समझकर प्रिय लगता है। मेरी सन्तान है यह सोचकर माँ बच्चे को प्यार करती है। इसी तरह संसार के समस्त विषयों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, 'मेरा' आनन्ददायक है, इसलिए प्रेम करते हैं। और स्वयं से क्यों प्रेम करते हैं ? इस 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं। आत्मा स्वतःप्रिय है, 'मेरा', स्वभाव से ही प्रिय है, किसी भी कारणवश नहीं। विषयों से प्रेम होने का कारण यह है कि उनके साथ सम्बन्ध हमें आनन्द देता है।

केवल विषयों के प्रति प्रेम होता तो दूसरों के ऐश्वर्य से भी हमें आनन्द मिलता। सबके सन्तानों के प्रति माँ का प्रेम नहीं होता, सन्तान अपनी होनी चाहिए। इस 'मैं' के साथ सम्बन्ध रखकर ही जगत में सर्वत्र मन का आकर्षण है। सब वस्तुएँ जो प्रिय हैं – वे इसलिए कि आत्मा की प्रीति उत्पन्न करती हैं। भक्त को भगवान क्यों प्रिय हैं ? उनसे प्रेम किए बिना रहा नहीं जाता। वे हमारी आत्मा की आत्मा है, आत्मस्वरूप हैं। जब तक हमें उनका आत्मा या भक्त की तुष्टि से नितान्त अपने के रूप में बोध नही होता, तब तक हम उन्हें उपाय के रूप में देखते हैं, उद्देश्य के रूप में नहीं। भगवान मुझे धन, मान, ऐश्वर्य, सन्तति, दीर्घायु देंगे, मेरे योगक्षेम की रक्षा करेंगे, इसलिए मैं उनसे प्रेम करता हूँ। किन्तु शुद्ध भक्त उन्हें बिना किसी कारण ही, 'आत्मा की आत्मा' जानकर प्रेम करता है। यह हुई अहैतुकी भक्ति – उद्देश्य के रूप में उन्हें प्यार करना। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि इस भक्ति में थोड़ा आनन्द होता है, तो क्या हुआ ?

यह विचारणीय बात है। आनन्द मिलता है इसलिए प्रेम करता हूँ, बिना प्रेम किए क्या आनन्द मिलता है ? दोनों में भेद हैं। जहाँ प्रेम करने से आनन्द होता हैं, वहाँ प्रेम का कोई कारण नहीं है। चूँकि वे आनन्दस्वरूप हैं, उनको प्रेम करने से ही आनन्द मिलता है, आनन्द पाने के लिए प्रेम नहीं है। भक्तिमती कुन्ती की प्रार्थना थी, 'हे भगवान, मुझे सर्वदा दुःख देना, ताकि मैं निरन्तर तुम्हारा स्मरण कर सकूँ।' दुःख की यह प्रार्थना केवल भगवान का स्मरण करने के लिए हैं। आनन्द नहीं, बल्कि यहाँ भगवान ही उद्देश्य हैं। आनन्द यहाँ प्रत्याशित व आकांक्षित नहीं हैं, बल्कि अप्रत्याशित रूप से उसके साथ अपने-आप आता है आनन्द प्रेम की ही समधर्मी एक वस्तु है। भक्त आनन्द के लोभ में भगवान से प्रेम नहीं करता।

कर्मों के पीछे छिपा हुआ आनन्द हमारे कर्मों की प्रेरणा बनता हैं। इस विषय पर दार्शनिकों के बीच मतभेद है। कुछ कहते हैं कि आनन्द हमारा लक्ष्य नहीं है। एक आदर्श को जीवन में रूपायित करने पर आनन्द होता है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि उस आनन्द को ध्यान में रखकर हम आदर्श की ओर अग्रसर नहीं होते। आनन्द नहीं, बल्कि सद्बुद्धि ही हमारा प्रेरक है। यह सद्बुद्धि की प्रेरणा ही हमें उस दिशा में ले जाती है और उसके साथ आनन्द भी अवश्यम्भावी रूप से आता है। यही बात श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि थोड़ा आनन्द होता है, तो क्या हुआ। अभिप्राय यह है कि क्या मैं इस आनन्द की खोज में उनसे प्रेम करता हूँ? ऐसा नहीं है।

श्रीरामकृष्ण अहल्या की प्रार्थना का उल्लेख करके समझाना चाहते हैं कि भगवान के पुकारने का उद्देश्य भगवत्प्राप्ति को छोड़कर और कुछ नहीं है। अहल्या ने कहा था – "हे राम! यदि शूकर-योनि में मेरा जन्म हो, तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु ऐसा करना कि तुम्हारे चरणकमलों में मेरी शुद्धा भक्ति बनी रहे। मैं और कुछ नहीं चाहती।" अहल्या को अन्य किसी वस्तु की चाह नहीं है, चाहिए तो केवल भगवान। इसी का नाम है शुद्धा भक्ति।

अब वे नारद की भक्ति की बात कहते हैं। नारद ने शुद्धा भक्ति चाही थी और कहा था, "तुम्हारी भुवन मोहिनी माया में मुग्ध न होऊँ।" प्रश्न उठ सकता है कि यह तो माँगना हो गया, फिर शुद्धा भक्ति कहाँ रही? श्रीरामकृष्ण कहते हैं – भक्ति की कामना कामना के अन्तर्गत नहीं है। भक्ति तो उन्हीं को लेकर हैं। याचना मनुष्य को भगवान से अलग कर देती है। और यह याचना तो उसे भगवान की ओर ले जाती है। इसीलिए इसमें कोई दोष नहीं। इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण ने खूब कहा है – मिश्री मिठाई के अन्तर्गत और हिंचे शाक शाक के अन्तर्गत नहीं

आता। वे कहते हैं, "आनन्द थोड़ा होता है, परन्तु वह विषय का आनन्द नहीं है। वह भक्ति और प्रेम का आनन्द है।" यही आनन्द जीव को भगवान के साथ अभिन्न कर देता है।

यंत्र के रूप में कर्मानुष्ठान

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "परन्तु इससे बढ़कर एक और अवस्था है। तब साधक बालक की तरह इधर-उधर घूमता है – कोई कारण नहीं। कभी एक पतिंगे को ही पकड़ने लगता है।" वैसे यह एक उपमा मात्र है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे एक बालक कोई उद्देश्य लेकर कोई काम नहीं करता। भागवत में इसका दृष्टान्त विशेष रूप से शुकदेव हैं। वे ईश्वर के द्वारा परिचालित यंत्र की तरह चलते हैं। श्रीरामकृष्ण की एक बात है, "अबकी बार बाउल के वेश में आऊँगा।" जा रहे हैं तो जा रहे हैं, खा रहे हैं तो खा रहे हैं। भीतर अभिमान-अहंकार कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण रूप से ईश्वर के हाय के यंत्र के रूप में व्यवहृत हो रहे हैं। शुकदेव जब चलते है तो मानो खुद नहीं चल रहे हैं। भगवान की इच्छा से चालित हो रहे हैं। जब उपदेश देते हैं, भगवान से प्रेरित होकर उपदेश देते हैं। भागवत में वर्णन आता है – परीक्षित की मृत्यु निकट है। सात दिन बचे हैं। यज्ञ हो रहा है। अविराम भगवच्चर्चा चल रही है। शुकदेव चले आ रहे हैं। लड़के उन्हें पागल समझकर पीछे लगे, उन पर धूल फेंक रहे हैं, पर इस ओर उनका ध्यान नहीं। इसी प्रकार देवप्रेरित होकर वे परीक्षित की सभा में उपस्थित हुए हैं। समस्त ऋषि-मुनि हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए, यज्ञकुण्ड का अग्नि भी खड़ा है, तब लड़कों का दल शान्त हुआ। परिवेश के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। देह के बारे में भी उदासीन शुकदेव सब कुछ भगवत्प्रेरित होकर करते हैं, स्वेच्छा से कुछ भी नहीं।

यह जो पूरी तौर से स्वयं को यंत्र के रूप में ईश्वर के हाथों में दे देना है, एक मात्र उसी के लिए सम्भव है जिसने अहं को सम्पूर्ण रूप से दूर कर दिया है। भगवान को पाये बिना, प्रयत्न के द्वारा ठोक-पीट कर यह अवस्था नहीं आती। शास्त्र ने साधना की दृष्टि से निर्देश दिया है – उनके ऊपर निर्भर करो। यह साधना की बात है। साधना करते करते यह स्वभाव में परिणत होने पर तब और कुछ करने को नहीं रह जाता।

उनके द्वारा यंत्रचालित होकर कार्य करना, केवल अवतारी पुरुष अथवा जो ईश्वरतत्व में प्रतिष्ठित हैं, उन्हीं के लिए सम्भव है। शास्त्र कहते हैं, ज्ञानी में अहंकार रहने की बात ही नहीं। तथापि पूर्व कर्मों का जो लेश रह जाता है, उसी के द्वारा परिचालित होकर वे कर्म करते हैं। किन्तु 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' – जिनके समस्त कर्मों का क्षय हो चुका है, उन्हें कौन-सा कर्म परिचालित करेगा ? जहाँ प्रारब्ध नहीं है, जहाँ वे स्वयं को नहीं चलाते, कर्म भी उन्हें नहीं चलाता। उन्हें ईश्वर की इच्छा ही चलाती है। उनके द्वारा लोक-कल्याण होगा, लोक-कल्याण के यन्त्र रूप में ईश्वर ने उन्हें रखा है।

हम लोगों को विशेष रूप से याद रखना होगा कि साधारण मनुष्य की निरभिमानता और ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में जो आते हैं उनकी निरभिमानता – इनमें बहुत अन्तर हैं। इनमें से एक साधना की सहायता से अहं को दूर करने की चेष्टा करता है और दूसरा ईश्वर के द्वारा नियंत्रित पूर्णतः अहंशुन्य होकर कर्म करता है।

दास्य भाव

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "डॉक्टर के मन का भाव क्या है, तुमने समझा ? वह है ईश्वर से प्रार्थना कि 'हे प्रभो, सत्कर्म में मेरी मति हो, असत् कर्म से बचा रहूँ।' मेरी भी वही अवस्था थी। इसे दास्यभाव कहते हैं।"

ईश्वर को प्रभु और स्वयं को दास – इसी दृष्टि से देखना और दासभाव से प्रार्थना करना, "दास को शुभ पथ में, कल्याण के पथ में चलाओ" – इसे दास्यभाव कहते हैं।

दास्यभाव भगवान को पाने का एक उपाय है। श्रीरामकृष्ण जगद्गुरु है, समस्त भाव उनके भीतर से व्यक्त हुए हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर – सभी भावों की साधना उन्होंने की है। जगन्माता उन्हें एक सर्वांगपूर्ण यंत्र बनाकर जगत का कल्याण करेंगी, धर्मजगत के विभिन्न मार्गों के पथिकों को पथनिर्देश देंगी। इसीलिए उनमें सभी भावों का पूर्ण विकास है। इन भावों को एक एक करके पार करना होगा, ऐसी बात नहीं कोई भी एक रास्ता पकड़कर भक्त भगवान का आस्वादन और उनकी पूर्ण अनुभूति पा सकता है। रुचि के भेद से साधक विभिन्न भावों में उनका आस्वादन करना चाहता है। श्रीरामकृष्ण की तो मानो कभी न मिटनेवाली भूख थी, सभी भावों की साधना करके उन्होंने उनका आस्वादन किया।

त्रिगुण और साधक

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – यदि किसी में शुद्ध सत्त्व आता है, तो बस वह ईश्वर का ही चिन्तन करता रहता है, उसे फिर और कुछ अच्छा नहीं लगता। कोई कोई प्रारब्ध के बल से जन्म से ही शुद्ध सत्त्वगुण पाते हैं। फिर किसी किसी को क्रमशः शुद्धसत्त्व प्राप्त होता है। रजोगुण मिश्रित सत्त्व से सत्कर्म में प्रवृत्ति होती है। इन सबके भीतर से होकर वह क्रमशः सत्त्वगुण में पहुँचता है। श्रीरामकृष्ण यह भी कहते हैं, "जगत का उपकार करना सामान्य जीव के लिए बहुत कठिन है।" यह हमें समझ लेना होगा कि हम भला जगत का कितना उपकार करेंगे ? रजोगुण के प्रभाव से मन में ऐसी धारणा आती है कि यह करूँगा, वह करूँगा। सभी को

कर्म करना होगा। इस निष्काम कर्म को करते करते रजोगुण मिश्रित सत्त्वगुण क्रमशः शुद्धसत्त्व हो जाता है। रजोगुण, उसके बाद रजोमिश्रित सत्त्वगुण और उसके बाद शुद्धसत्त्व – इस तरह मनुष्य आगे बढ़ जाता है।

हम अभी जिस अवस्था में हैं, उसमें हमारे लिए जो उपयोगी है, वही करना होगा। यदि प्रारम्भ में ही कहें कि हम सब शुद्धसत्त्व का ही अनुसरण करेंगे, भगवान से कुछ नहीं मागेंगे, तो क्या कहने भर से हो जाएगा। हम ऐसा नहीं कर पाएँगे। प्रयास करने पर, पग पग पर बाधा आती है। कारण यह है कि हम अभी कामनाशून्य नहीं हुए हैं। शास्त्र कहते हैं – शुद्धसत्त्व या अहैतुक कौन होगा ? जिसने उनका आश्रय लिया है, वही। तो फिर अहैतुकी भक्ति का उपदेश क्यों दिया जाता है ? लक्ष्य क्या है, यह बता देने के लिए। वहाँ हमें जाना होगा, उसी अवस्था में हमें पहुँचना होगा। इसलिए आदर्श को सामने रखकर कहते हैं, एक एक कदम बढ़ाते हुए तुम्हें इसी चरम लक्ष्य तक पहुँचना होगा। सीढ़ी की आवश्यकता है, इसके द्वारा हम छत पर पहुँचेंगे। इसलिए लक्ष्य को जानना आवश्यक है, नहीं तो दो-चार सीढ़ियाँ चढ़कर ही हम कहेंगे, "वाह ! अच्छा है, बहुत हो गया।" श्रीरामकृष्ण कहते हैं – लकड़हारे के प्रति ब्रह्मचारी का उपदेश था, 'आगे बढ़ते जाओ'। (क्रमशः)
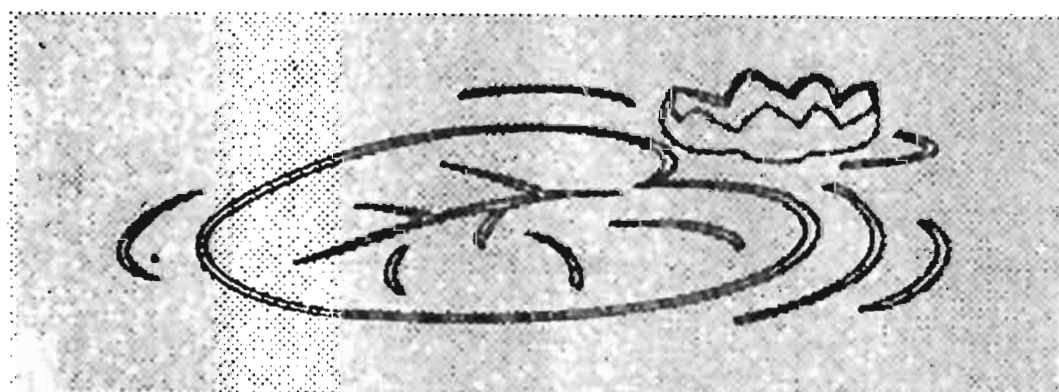
नृसिंह - चरित

स्वामी प्रेमेशानन्द

(श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है। इनमें से मत्स्य, कुर्म, वराह आदि के चरित पौराणिक है और परशुराम, बुद्ध आदि के व्यक्तित्व ऐतिहासिक हैं, जिनके जीवन से हमें हिन्दू समाज के उत्थान-पतन विषयक स्पष्ट संकेत भी मिलते हैं। तथापि इन महान कथाओं के अनुशीलन से प्राप्त होनेवाली शिक्षाएँ तथा आनन्द, इनकी ऐतिहासिकता पर निर्भर नहीं करतीं। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन्हें पुनः लिखकर प्रकाशित कराया था, उसी 'दशावतार-चरित' नामक पुस्तक से हम इनका अनुवाद क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। -सं.)

तब कर- कमलवरे नखमद्भुतश्रृंगं
दलित हिरण्यकशिपु तनुभृंगम्
केशव धृत-नरहरिरूप
जय जगदीश हरे ॥

– १ –

श्री हरि ने वराह का रूप धारण करके हिरण्याक्ष का वध किया है, यह समाचार पाने के बाद हिरण्यकशिपु शोक और क्रोध से अधीर हो उठा। विश्वविजयी छोटा भाई कभी पराजित हो सकेगा, यह बात उसने कभी सपने में भी नहीं सोचा था। उसके विचार में तो सम्पूर्ण जगत उन दोनों भाइयों का लीलाक्षेत्र था। उनकी क्रियाकलापों में बाधक होनेवाला सम्पूर्ण विश्व में कोई भी न था। और उसके भाई के कार्य में केवल बाधा ही नहीं डाली गई थी, बल्कि उसकी पूरी तौर से हत्या कर दी गई थी। क्रोध से मानो उसका सारा शरीर ही जलने लगा। उसकी हुंकार एवं गर्जन से चारों दिशाएँ काँपने लगीं।

उसने ब्राह्मणों से पूछा, "श्री हरि कौन है, कहाँ रहता है और उसे सबक सिखाने का क्या उपाय है ?" उन लोगों ने बताया, "वे इस विश्व के स्वामी हैं तथा सबके आराध्य हैं । वे बैकुण्ठ में रहते् हैं और याग-यज्ञ आदि धर्म-कर्म सब उन्हीं के निमित्त किए जाते हैं । अपने भक्तों से वे बड़ा प्रेम करते हैं, अतः उन लोगों को कष्ट देने पर उन्हें भी कष्ट होगा ।"

ब्राह्मणों की बात सुनकर दैत्यराज समझ गया कि केवल शारीरिक शक्ति के बल पर शत्रु का अनिष्ट करना सम्भव नहीं हैं । दैवबल से अमर हुए बिना उनके साथ शंत्रुता करने पर मृत्यु निश्चित है, अतः पहाड़ की एक कन्दरा में जाकर उसने कठोर तपस्या आरम्भ की । वह अपने पाँव के अँगूठों पर खड़ा होकर इतने मनोयोगपूर्वक अपने इष्टदेव ब्रह्मा का ध्यान करने लगा कि उसकी चेतना लुप्त हो गई, पूरा मन ब्रह्मामय हो उठा – शरीर है या नहीं, इसका भी बोध नहीं रहा । मच्छर, दीमक और चीटों ने मिलकर उसके शरीर को अपना भोजन बना डाला । केवल उसका अस्थि-पंजर ही गुफा के भीतर दण्डायमान रहा ।

अब ब्रह्माजी उसे दर्शन दिए बिना न रह सके । गुफा में आकर उन्होंने अपने कमण्डलु से जल छिड़का और उसके शरीर में रक्त-मांस की सृष्टि की । तत्पश्चात् उसके सिर पर हाथ रखकर उन्होंने उसका ध्यान भंग किया । ब्रह्मा बोले, "वत्स, मैं तुम्हारी तपस्या से सन्तुष्ट हूँ; बोलो, तुम कौन सा वर चाहते हो ?" उसने कहा, "प्रभो, मैं अमर होना चाहता हूँ ।" ब्रह्मा बोले, "ऐसा भी क्या कभी होता है, बेटा ? अमर करने की क्षमता तो मुझमें नहीं हैं ।" हिरण्यकशिपु ने कहा, "तो फिर मुझे ऐसा वर दीजिए कि किसी अस्त्र अथवा आपके द्वारा सृष्ट किसी भी जन्तु के द्वारा जल, स्थल, अग्नि, वायु, दिन या रात में मेरी मृत्यु न हो ।" ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कहा ।

– २ –

हिरण्यकशिपु का मृत्युभय चला गया। अब वह श्रीहरि को मजा चखाने के उपाय सोचने लगा। अपनी असुर-सेना की सहायता से पहले तो उसने त्रिलोक पर विजय प्राप्त किया। वह देवताओं को जीतकर ही चुप नहीं बैठा, बल्कि स्वयं ही स्वर्ग का राजा होकर उसने देवताओं को अपनी सेवा में नियुक्त किया। उसने स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल में यह घोषणा भी करा दी कि श्रीहरि की उपासना करनेवाले को शूली पर चढ़ा दिया जाएगा और उनके नाम का उच्चारण तक महान अपराध माना जाएगा। अब से स्वयं उसी का ध्यान-भजन करना होगा, उसी के नाम पर यज्ञादि के अनुष्ठान होंगे और उसी को जगदीश्वर कहा जाएगा। श्रीहरि को सबक सिखाने की यह क्या ही अद्‌भुत व्यवस्था थी! साधु-भक्तों को इससे जो कष्ट हुआ, वह बताने की आवश्यकता नहीं। सच्चे ब्राह्मणों ने याग-यज्ञ करना छोड़ दिया और चाटुकारों ने असुरराज के नाम यज्ञ करना आरम्भ किया। असुरगण साधु-सज्जनों पर अत्याचार करने में लग गए। धर्म का लोप हो गया और मानवजाति पशुओं में परिणत हो गई।

– ३ –

हिरण्यकशिपु को एक बड़ा ही सुन्दर पुत्र हुआ। थोड़ा बड़े होते ही उसके मधुर आचरण ने सबका मन आकृष्ट कर लिया। वह बड़ा शान्त-शिष्ट था, अकेले ही खेलता, अपने आप में डूबा हुआ घूमता और सबसे प्रेम रखता। उसका मुखमण्डल सुन्दर, कण्ठ मधुर तथा चालचलन मनोहर था। उसे प्रह्लाद नाम से सम्बोधित किया जाता था।

हिरण्यकशिपु स्वभाव से असुर होने पर भी, था तो कश्यप का ही पुत्र! अतः वर्ण से वह ब्राह्मण था। पाँच वर्ष की आयु में

प्रह्लाद को शिक्षा के लिए गुरु के घर भेजा गया। दैत्यगुरु शुक्राचार्य के षण्ड तथा अमार्क नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों ही प्रह्लाद के शिक्षक हुए। गुरु के गृह में अनेक समवयस्क बालकों को पाकर प्रह्लाद बड़े ही आनन्दित हुए और उन लोगों के साथ पढ़ना आरम्भ किया। स्वर वर्णों को तो उन्होंने सुनते ही सीख लिया, परन्तु जब व्यंजन वर्णों का पाठ आरम्भ हुआ तो 'क' अक्षर सुनते ही उनके मन में न जाने किस भाव का उदय हुआ कि वे लगातार रोने लगे। सभी अवाक् रह गए, कोई भी इसका कारण समझ नहीं सका। वे भी किसी प्रकार कुछ बता पाने में असमर्थ थे। दो-चार दिनों बाद उनका यह भाव थोड़ा कम हुआ। तब उन्होंने बताया कि 'क' अक्षर का उच्चारण करते ही उन्हें कृष्ण* की याद आ जाती है। कृष्ण के प्रति उनके मन में इतना प्रेम था कि इस अक्षर का उच्चारण करते ही कृष्ण के लिए उनका मन अधीर हो उठता था। शिक्षकों ने शास्त्र तो पढ़ रखे थे, पर उन्होंने भक्त नहीं देखे थे। उन लोगों ने सोचा कि यह सब बचपना है; इतना छोटा बच्चा भला कृष्ण के बारे में क्या जानता होगा, थोड़े दिन खेलकूद करने से सब भूल जाएगा। प्रह्लाद ने भी खेल में मन लगाया। लड़कों को साथ लेकर हरिपूजा और हरिनाम-संकीर्तन में वे स्वयं भी उन्मत्त हो जाते और उन लोगों को भी मतवाला कर डालते। नाम लेते लेते कभी कभी वे अचेत हो जाते और उस समय समाधि की अवस्था में उन्हें श्रीहरि का दर्शन मिलता। लड़कों में से कइयों को इस प्रकार की समाधि होने लगी। पढ़ना-लिखना सब बन्द हो गया। हरिनाम की ध्वनि से चारों दिशाएँ गूँजने लगीं। उनके शिक्षक बड़ी कठिनाई में पड़े। प्रह्लाद के क्रियाकलापों में एक ऐसा माधुर्य था कि सहसा उन्हें मना नहीं किया जा सकता था। विशेषकर राजपुत्र – और वह

---

* कृष्णवर्ण होने के कारण विष्णु का एक नाम कृष्ण भी है।

भी हिरण्यकशिपु के समान राजा के पुत्र की मनमानी में बाधा डालना – थोड़ा विचारणीय विषय था । यही सोचते सोचते समस्या ने विराट् रूप धारण कर लिया था ।

अब षण्ड तथा अमार्क ने प्रह्लाद को नियन्त्रित करने का प्रयास किया । उन्होंने समझाया, "हरि तुम्हारे पिता का शत्रु है, चाचा का हत्यारा है; अतः वह तुम्हारा भी शत्रु हुआ ।" परन्तु प्रह्लाद ने तरह तरह की युक्तियों से दिखाया कि हरि सबके मित्र हैं, वे किसी के भी शत्रु हो ही नहीं सकते । परन्तु विषयी पण्डितगण कभी भी भक्तों की युक्ति नहीं समझ सकते । शिक्षकगण प्रह्लाद की बातों को बेकार की धृष्टता समझकर बड़े नाराज हुए । परन्तु प्रह्लाद और उसके मित्र किसी भी प्रकार वश में नहीं आए । वे दुगने उत्साह के साथ हरिनाम करने लगे । पण्डितों ने भयभीत होकर राजा को इसकी सूचना दी ।

राजा ने प्रह्लाद को बुलाकर पूछा, "बेटा प्रह्लाद, किसने तुम्हें हमारे परम शत्रु हरि के बारे में बताया है ?" प्रह्लाद अत्यन्त विनयपूर्वक बोले, "पिताजी, हरि की बात किसी को सिखानी नहीं पड़ती । हरि सबके भीतर विद्यमान हैं । मन के कामनाहीन और निर्मल होते ही श्रीहरि स्वयं प्रकट होते हैं । वे हमारी आत्मा हैं, प्राणों के प्राण हैं, वे भला शत्रु किस प्रकार हो सकते हैं ?" राजा बालक के मुख से ऐसी बुद्धिमतापूर्ण बातें सुनकर हँस पड़े, उन्होंने सोचा कि जरूर यह सीखी-सिखाई बातें हैं । किसी दुष्ट ने इसे ये बातें सिखा दी होंगी । उन्होंने प्रह्लाद को पुनः गुरु के घर भेज दिया । साथ ही उन्होंने गुरुगृह पर पहरा देने को सेना की एक टुकड़ी भी भेज दी ताकि कोई अज्ञात अपरिचित व्यक्ति प्रह्लाद के पास न फटक सके ।

प्रह्लाद जो भी एक बार सुन लेते, वह सदा के लिए उनके मन में अंकित हो जाता । परन्तु वे भगवान के अतिरिक्त अन्य

किसी विषय पर बिल्कुल भी मनोयोग नहीं करते थे। शिक्षकों ने उन्हें विभिन्न विषयों की शिक्षा देने का प्रयास किया, परन्तु प्रह्लाद ने कृष्ण-कथा एवं कृष्णगुण-कीर्तन के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय पर ध्यान नहीं दिया, षण्ड और अमार्क ने बाध्य होकर पुनः यह बात राजा के कानों तक पहुँचाई।

ईर्ष्या के समान कोई दूसरा विष नहीं होता। दैत्यराज ईर्ष्या के विष से जलकर मरा जा रहा था। और तिस पर अपना ही पुत्र हरिभक्त हो ! यह तो जले पर नमक के समान था। यह समाचार पाते ही उसका शरीर जल-भुन गया। और जलने की बात भी थी। जिसने तीनों लोकों से हरिनाम उठा दिया था, याग-यज्ञ, धर्म-कर्म आदि बन्द करा दिया था, उसी के पुत्र के सिर पर हरि आकर सवार हो गए थे। पिता का शत्रु और चाचा का हत्यारा जानकर भी यह हरि की उपासना करता है। उसने समझ लिया कि निश्चय ही किसी महाशत्रु ने पुत्र के रूप में जन्म लिया है। यही सोचकर उसने जल्लाद को प्रह्लाद का सिर काट डालने का आदेश दिया।

– ४ –

जल्लाद ने प्रह्लाद को श्मशान में ले जाकर उसके गले पर तलवार से प्रहार किया। प्रह्लाद कृष्ण के ध्यान में मग्न रहे और उनका सिर कटा नहीं। जल्लाद ने भय से काँपते हुए लौटकर यह बात राजा को बताई। राजा ने सैनिकों को आदेश दिया कि प्रह्लाद को भाले से छेदकर मार डाला जाय। निर्दय असुर सैनिक अपने भालों से बारम्बार प्रहार करके भी प्रह्लाद के शरीर पर चिह्न तक नहीं बना सके। सैनिकों ने विस्मित होकर राजा को सूचित किया। राजा ने आदेश दिया, "जाओ, राज्य के सबसे विशाल हाथी के पाँवों के नीचे फेंककर इसे पीस डालो।" सैनिकों ने प्रह्लाद के हाथ-पाँव बाँधकर एक मतवाले हाथी के पाँवों तले

फेंक दिया। परन्तु हाथी के हृदय में भी तो नारायण विद्यमान हैं। हाथी ने उन्हें पाँवों से कुचला नहीं, बल्कि सूँड़ से उठाकर अपनी पीठ पर चढ़ा लिया। प्रह्लाद हाथी की पीठ पर बैठे हरिनाम करने लगे।

राजा का हठ और असुरों का कौतूहल और भी बढ़ गया उन लोगों ने करोड़ों जीवों की हत्या की थी, पर इस कोमलगात बालक का वे बाल भी बाँका नहीं कर पा रहे थे। राजा का आदेश हुआ कि उसे जल में डुबाकर, आग में जलाकर, विष खिलाकर – चाहे जैसे भी हो, मार डालो। असुरों के हाथ में एक बड़ा ही मजेदार काम आ पड़ा। वे बालक की हत्या के लिए विविध उपाय सोचने लगे।

असुरों ने प्रह्लाद के हाथ-पाँव बाँधकर पानी में डाला और बीस-पच्चीस लोगों ने एक पत्थर लाकर उसे दबा दिया, परन्तु पत्थर पानी में न डूबकर कार्क के समान तैरने लगा और प्रह्लाद के हाथ-पाँव के सारे बन्धन अपने आप खुल गए। वे उसी पत्थर पर बैठकर हरिनाम का उच्चारण करने लगे।

भयानक सर्पों का विष लाकर उन लोगों ने प्रह्लाद को खाने के लिए दिया। श्रीहरि को निवेदित किए बिना तो वे कुछ खाते नहीं थे, अतः विष खाने के पहले उसे भी उन्होंने श्रीहरि को निवेदित किया। और इसके साथ ही विष अमृत में परिणत हो गया। प्रह्लाद उस अमृत का पान कर और भी तेजवान हो गए। उन्हें एक पहाड़ की चोटी पर ले जाकर वहाँ से फेंका गया। परन्तु वे पंख के समान हवा में तैरते हुए हरिनाम जपने लगे।

अब और क्या किया जाय ! उन लोगों ने देखा कि अब उन्हें केवल अग्नि में झोंकना ही बाकी रह गया है। उसका भी प्रयोग एक बार करके देखना ही था। परन्तु बालक की लीला

देखकर असुरों के पाषाणसम प्राणों में भी भय का संचार हो गया था, अतः सभी आपस में आगा-पीछा करने लगे। परन्तु राजा के आदेश का उल्लंघन भी खतरे से खाली न था। अतः उन लोगों ने प्रह्लाद को एक स्थान पर बैठाकर उसके ऊपर पर्वत के समान काष्ठराशि चढ़ाने के बाद उसमें आग लगा दी। आग की लपटें धू-धूकर जलती हुई आकाश को छूने लगीं और कई दिनों बाद अंगारों में परिणत हुई। तब देखने में आया कि प्रह्लाद ज्वलन्त अंगारों के स्तूप के बीच प्रसन्नवदन योगासन में बैठे हैं और उनका एक बाल तक नहीं जला है।

ऐसी भयानक घटना न तो कभी किसी ने देखी और न सुनी ही थी। यह समाचार पाकर दैत्यराज़ पहले तो स्तम्भित रह गए। एक ओर तो शत्रु के स्मरण से ईर्ष्या की आग में उनका हृदय जला जा रहा था। दिन-रात उनकी तो एक ही चिन्ता थी, एक ही चर्चा थी कि हरि को कैसे सबक सिखाया जाय यह कितने लज्जा की बात थी कि उनका अपना पुत्र ही हरि का भक्त था! कहाँ तो पाँच साल का यह लड़का -- और राज्य के समस्त योद्धा मिलकर भी उसे नहीं मार सके! क्या हरि इतने शक्तिमान हैं!!

हिरण्यकशिपु चिन्ता करते करते मानो उन्मत्त हो गया। उसका चेहरा इतना भयंकर हो उठा कि कोई उसके सामने जाने का साहस नहीं जुटा पाता था। मानो वह पूरे जगत को ही निगल डालेगा।

याज्ञिक ब्राह्मणों ने आकर कहा, "महाराज, बालक को योग में महासिद्धि प्राप्त हो गई है। अभिचार-क्रिया के बिना उसकी हत्या असम्भव है। अस्त्र या अग्नि आदि बाह्य वस्तुओं के द्वारा उसका कोई अनिष्ट नहीं हो सकता। दैव द्वारा ही उसकी दैवीशक्ति का नाश करना होगा।"

अभिचार के लिए विराट् आयोजन हुआ। एक विशाल धूनी जलाकर ब्राह्मणगण उसमें अनेक मन घी ढालते हुए तन्त्र-मन्त्र का पाठ करने लगे। यज्ञ के अन्त में पूर्णाहुति देते ही काले वर्ण के, लाल नेत्रोंवाले, पिंगल जटाधारी भैरवगण हाथ में त्रिशूल लिए यज्ञकुण्ड से बाहर निकलने लगे। ब्राह्मणों ने प्रह्लाद का विनाश करने के लिए उनका आह्वान किया था। परन्तु उन भैरवों ने भक्तद्वेषी असुरों पर ही आक्रमण कर दिया। पूरे राज्य में हो-हल्ला मच गया। प्रह्लाद से असुरों का कष्ट नहीं देखा गया। उनकी स्तुति पर भैरवगण अन्तर्ध्यान हो गए।

कैसी भयानक घटना थी यह ! तो क्या यह बालक सर्वक्तिमान है ? तो क्या आखिरकार इसी के हाथों मरना होगा ? हिरण्यकशिपु पराजय का नाम तक न जानता था। परन्तु यह तो पराजय से भी बड़ी बात थी। उसकी सारी चेष्टाएँ बेकार जा चुकी थी। अब और क्या किया जाय ?

उसने प्रह्लाद को बुला भेजा। प्रह्लाद ने आकर पिता को साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़े हो गए। हिरण्यकशिपु ने उनसे पूछा, " तू इतना हरि हरि करता है, बता तो, वह कहाँ रहता है ?" प्रह्लाद ने कहा, " वे इस जगत के ईश्वर हैं – सर्वत्र निवास करते हैं।"

हिरण्यशिपु – यह सब पहेली बुझाना छोड़। बोल, इस समय वह कहाँ है।

प्रह्लाद – पिताजी, मैं तो उन्हें सर्वत्र देख रहा हूँ।

हिरण्यकशिपु – क्या वह इस स्फटिक के खम्भे में हैं ?

प्रह्लाद – हाँ, पिताजी ! ये रहे मेरे प्रभु।

हिरण्यकशिपु 'ये रहे' सुनकर काँप उठा। उसने तत्काल पूरी ताकत के साथ एक लात जमाकर खम्भे को तोड़ डाला।

खम्भा ज्योंही टूटा, त्योंही एक विकट मूर्ति उसमें से गर्जन करते हुए बाहर निकली। उनका विशाल मस्तक सिंह के समान था। चारों हाथों में भयंकर नख थे। शरीर मनुष्य का सा था। उनके हुँकार से पृथ्वी काँपने लगी। उनके साथ हिरण्यकशिपु का भयानक युद्ध हुआ। अन्त में दिन-रात के सन्धिक्षण में उन अपूर्व जीव ने हिरण्यकशिपु को अपने जंघे पर पटक कर उसका हृदय फाड़ डाला।

हिरण्यकशिपु का वध करके भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे भयानक गर्जना करने लगे। ब्रह्मा आदि देवगण भयभीत हुए कि कहीं ये क्रोध के वशीभूत होकर जगत् का ही ध्वंश न कर डाले। परन्तु क़िसी को भी उनके सम्मुख जाने का साहस नहीं हुआ। उन लोगों ने प्रह्लाद को उनके पास जाकर स्तुति करने का उपदेश दिया। प्रह्लाद ने अपने दोनों नन्हे नन्हे हाथ जोड़कर श्रीहरि का स्तवन आरम्भ किया। भक्त का मधुर कण्ठस्वर सुनकर भगवान का हृदय पिघल गया। वे प्रह्लाद को गोद में लेकर उसका शरीर चाटने लगे।

शरीर नर के समान और सिर सिंह के समान होने के कारण ही भगवान की इस मूर्ति का नाम नरसिंह या नृसिंह है।

(आगामी अंक में वामन-चरित)

मानस-रोग (२१/१)

पंडित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पंडितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके इक्कीसवें प्रवचन का पूर्वार्द्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के लेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने, किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय रायपुर में अध्यापक हैं -सं.)

रोगों के सन्दर्भ में आयुर्वेदशास्त्र तथा अन्य अधिकांश चिकित्सा-पद्धतियों की यह मान्यता है कि जब तक रोग का ठीक ठीक ज्ञान और निदान नहीं हो जाता, तब तक उसकी चिकित्सा भी ठीक से नहीं हो सकती। आज भी जो कई रोग असाध्य हैं, उसके मूल में यही समस्या है कि उस रोग के मूल कारण की खोज नहीं हो पाई है। आधुनिक चिकित्सा में भी चिकित्सक पहले यही निश्चय करने की चेष्टा करता है कि रोगी को कौन सा रोग हुआ है। जब वह किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाता है, तभी रोगी को औषधि देता है।

शरीर के रोगों के सन्दर्भ में जो सत्य है, वह मन के रोगों के सन्दर्भ में और भी अधिक सत्य है। प्राचीन काल में वैद्य रोगी की नाड़ी और शरीर में रोग के लक्षणों से रोग का निदान करते थे। आधुनिक चिकित्सक रक्त आदि की परीक्षा करके रोग का निर्णय करते हैं।

रामचरितमानस में मन के रोगों के जो लक्षण बताये गए हैं, निदान और चिकित्सा की जो पद्धति प्रस्तुत की गई है, उनके द्वारा यदि हम अपने अन्तर्जीवन में विद्यमान रोगों को ठीक ठीक समझ सकें और उससे मुक्त होने के लिए उस चिकित्सा-पद्धति को हृदयंगम कर सके, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे जीवन के अधिकांश मानस-रोगों का उपशम हो जायगा।

मानस-रोग कहने पर साधारणतया केवल मन के रोगों का अर्थ ही ध्वनित होता है। लेकिन यहाँ पर 'मन' बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। मनुष्य के अन्तःकरण को चार भागों में विभक्त किया गया है, जिन्हें मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार कहते हैं। इन चारों के समुच्चय को अन्तःकरण-चतुष्टय कहते हैं। मानस-रोगों के सन्दर्भ में 'मन' इस समग्र अन्तःकरण-चतुष्टय का बोधक है। इसलिए वे समस्त रोग, जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को केन्द्र बनाकर प्रगट होते हैं, मानस-रोग कहलाते हैं।

मानस-रोगों के स्वरूप को समझने के लिए अन्तःकरण पर भी एक दृष्टि डालना उपयोगी होगा। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के समुच्चय को अन्तःकरण कहते हैं। जो संकल्प-विकल्प केन्द्र है, अर्थात जहाँ से संकल्प-विकल्प उठते हैं, उसे मन कहते हैं। जिसके द्वारा हम निर्णय करते हैं, किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह बुद्धि है। जो स्वीकृति देने वाला है, वह अहंकार है। और इन सबके पीछे जहाँ जन्मान्तर के संस्कार संग्रहित हैं, वह चित्त है। इनमें से एक, दो या सभी विकारग्रस्त हो जाते हैं, जिस पर 'रामचरितमानस' में 'मानस-रोगों' के रूप में चर्चा की गई है।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार परस्पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, इसीलिए इनमें उत्पन्न होनेवाले रोग बड़े जटिल होते हैं। शरीर और मन के रोगों में जो सबसे बड़ा अन्तर है, वह यह है कि शरीर में प्रायः एक साथ कई रोग नहीं होते। कोई एक या दो रोग ही एक साथ प्रगट होते हैं। पर मन के रोगों की समस्या यह है कि सारे रोग मनुष्य के अन्तःकरण को जीवन भर आवृत्त किये रहते हैं। हो सकता है कि एक समय किसी एक रोग की प्रबलता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई दे और अन्य रोग उस समय दिखाई न दे। उदाहरण के लिए जब एक व्यक्ति क्रोधित होता है, तब हो सकता है कि वहाँ काम अथवा लोभ सक्रिय दिखाई न दें ; पर इसका

अर्थ यह नहीं कि जिसके जीवन में क्रोध है, उसमें काम अथवा लोभ नहीं होता। इसी प्रकार अन्य विकारों के साथ भी यही बात जुड़ी हुई हैं।

इसे अगर सूत्र रूप में कहें तो ये जितने भी मन के रोग हैं, उनके मूल में मोह है – 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।' इस मोह से ही रोगों की श्रृंखला शुरू होती हैं। जैसे शरीर के सन्दर्भ में वात, पित्त और कफ हैं, उसी तरह मन के सन्दर्भ में काम, क्रोध और लोभ हैं। मोह दोनों सन्दर्भों में समान रूप से जुड़ा हुआ है। गोस्वामीजी इन चारों को ही अधिक महत्व देते हैं। और अगर हम देखें तो पाएँगे कि हमारे अन्तःकरण के चारों भाग इन चारों के एक एक अधिष्ठान हैं। जैसे काम का अधिष्ठान है मन। इसीलिए काम का एक नाम मनोज भी है। काम मन को आक्रान्त करता है। काम का सम्बन्ध मुख्य रूप से व्यक्ति के मन से है। लोभ का केन्द्र है बुद्धि, क्रोध का अहंकार और मोह का अधिष्ठान है चित्त। इस तरह इन एक एक व्याधियों का हमारे अन्तःकरण के एक एक भाग से सम्बन्ध है। क्रोध का अहंकार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। क्रोध जब भी आएगा, कहीं न कहीं से अहंकार से अवश्य जुड़ा होगा। इसी प्रकार से जो चार प्रमुख रोग हैं, जो हमारे अन्तःकरण को आक्रान्त कर विविध रूपों में प्रगट होते हैं; इन सब रोगों के निदान में यह विभाजन सहायक होता है। कुछ रोग कामप्रधान होते हैं, तो कुछ क्रोधप्रधान और कुछ लोभप्रधान। जैसे आसक्ति – यह कामप्रधान रोग होता है और इसका केन्द्र है मन। हिंसा क्रोधप्रधान रोग है और इसका केन्द्र है अहंकार। स्वार्थपरक वृत्तियाँ लोभ से जड़ी हुई हैं, जहाँ कि बुद्धि की प्रधानता है। इस तरह अनगिनत व्याधियों से हमारा अन्तःकरण आक्रान्त है। और हमारा अन्तःकरण ही नहीं, बल्कि सारा समाज इन व्याधियों से आक्रान्त हैं।

इस समय चर्चा के लिए हमने जिस व्याधि को लिया है, वह है क्षैय रोग –

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। ७/१२१/३४

कागभुसुण्डिजी गरुड़जी से कहते हैं कि जब दूसरों के सुख को देखकर मन में जलन उत्पन्न हो तो समझ लेना चाहिए कि मन को क्षय रोग हो गया है। और उसके बाद अगर हमारे मन में दुष्टता और कुटिलता भी आ जाय, तो समझ लेना चाहिए कि क्षय रोग के साथ मन को कोढ़ भी हो गया। अब इस क्रम को हम थोड़ा ध्यान से देखें। लोभ का सीधा सम्बन्ध मुख्यतः बुद्धि से है। और यह निश्चित है कि जिस विकार का सम्बन्ध बुद्धि से होगा, वह बड़ी गम्भीर समस्या उत्पन्न करेगा। इसे यों समझ लीजिए कि अगर किसी के शरीर में रोग हो जाय और वह उस रोग को जानकर, अपने को रोगी मानकर चिकित्सक के पास जाय, औषधि ले और स्वस्थ होने की चेष्टा करे, तब तो कोई समस्या नहीं है। पर यदि कोई व्यक्ति रोगी होने पर भी रोग का अनुभव न करे, अपने को रोगी न माने तो ? और मन के सन्दर्भ में यही सत्य है। मन में विकार आने पर, मन के रोगी होने पर, यदि हमारी बुद्धि स्वस्थ बनी रहे, बुद्धि में ठीक ठीक यह अनुभव होता रहे कि हमारे मन में यह विकार है, यह रोग हो गया है, तब तो हम उस रोग से निवृत्ति की चेष्टा करेंगे। पर कहीं ऐसा हो कि मन के रोगों को बुद्धि का समर्थन प्राप्त हो जाय और बुद्धि यह कहने लगे कि नहीं नहीं, यह रोग नहीं, यह तो स्वस्थता का लक्षण है, तो ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से जैसे शरीर के सन्दर्भ में व्यक्ति रोग के लक्षणों को नहीं जानता या रोग को बुराई नहीं समझता, रोग को दूर करने की चेष्टा नहीं करता, उसी प्रकार मन के जितने विकार हैं, उनके साथ भी यह बात जुड़ी हुई है। जब भी हम बुद्धि के द्वारा रोगों का समर्थन करने लगेंगे, वह

रोग दूर होने के स्थान पर अचल होकर बैठ जाएगा। चाहे वह काम हो, क्रोध हो, या लोभ; जब भी हम उस विकार का बुद्धि के द्वारा समर्थन करेंगे, तर्क-युक्ति से उसका पक्ष लेंगे, तो निश्चित रूप से उस रोग को दूर करना असम्भव हो जाएगा।

यही बात हमें रावण के चरित्र में दिखाई देती है। भगवान राम ने हनुमानजी को जब रावण के पास भेजा, तो उसके पीछे उनका उद्देश्य क्या था ? लंका का सारा समाज रुग्ण है और उन सबके मूल में हैं रावण। गोस्वामीजी रावण को मोह का प्रतीक मानते हैं – 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।' समस्त व्याधियों के मूल में मोह है और समस्त राक्षसों के मूल में हैं रावण। अब चाहे मोह कह लीजिए या रावण, बात एक ही है।

हनुमानजी को लंका भेजने के पीछे भगवान राम का उद्देश्य यही था कि लंका का रोगग्रस्त समाज, मोहग्रस्त रावण स्वस्थ हो जाय। रावण सहित लंका का सारा समाज रोगग्रस्त है और हनुमानजी हैं महानतम वैद्य। वे तो भगवान शंकर के अवतार है न ! किसी ने गोस्वामीजी से पूछ दिया कि हनुमानजी तो वैद्य बनकर गये थे, फिर उन्होंने लंका को जला क्यों दिया ? तो गोस्वामीजी बड़ी भावनात्मक पद्धति से कहते हैं कि यह हनुमानजी की बड़ी विलक्षण चिकित्सा-पद्धति है। वे लंका को जलाकर औषधि तैयार कर रहे थे। कैसे ? वे बोले – आयुर्वेदशास्त्र की मान्यता है कि जब साधारण जड़ी-बूटियों से काम न चले, तब सोना और रत्न आदि का भस्म बनाकर रोगी को देना चाहिए। उससे रोगी स्वस्थ हो जाता है। भगवान राम ने हनुमानजी से यही कहा – भाई, तुमसे अच्छा वैद्य और कौन होगा ? विष में भी अमृतत्व खोज निकालने वाले महानतम वैद्य तो भगवान शंकर ही हैं। और यह पता कब चला ? देवता अमृत के प्यासे थे। उन्हें विश्वास था कि अमृत द्वारा अमरता

मिलती है। अमृत पाने के लिए समुद्र-मन्थन किया गया, तो पहले समुद्र से विष निकला और उस विष से संसार जलने लगा। देवताओं ने घबराकर भगवान विष्णु की ओर देखा। उनका संकेत यह था कि समुद्र-मन्थन से अमृत निकलेगा, पर यह तो विष निकला। इस विष से कोई बचेगा तब तो अमृत पीएगा। पहले तो इस विष से बचाइए। तब भगवान विष्णु ने कहा कि भगवान शंकर के पास जाओ।

आगे वर्णन आता है कि भगवान शंकर ने उस विष को पी लिया और वह विष उनके लिए अमृत के समान हो गया। विष अमृत हो गया इसका अभिप्राय क्या है? यही उत्कृष्ट वैद्य की कसौटी है। साधारण विभाजन तो वनस्पतियों में भी है, वस्तुओं में भी है। जैसे हम कहेंगे कि दूध पौष्टिक पदार्थ है, दूध पीने पर व्यक्ति स्वस्थता अनुभव करता है , और शंखिया विष है, उसे खाने से मृत्यु हो जाती है। सामान्य व्यवहार में दोनों में प्रभेद है, एक ग्राह्य है और एक त्याज्य है। पर वैद्य की विशेषता क्या है? एक ओर तो वे रोगी के लिए दूध का पथ्य देते हैं और दूसरी ओर शंखिया तथा अन्य विषों का भस्म बनाकर, औषधि बनाकर, उसकी मारकता को नष्टकर, उसमें जो अमृतत्व छिपा हुआ है, उसे प्रगट करते हैं। फिर उसे रोगी को औषधि के रूप में देकर उसको स्वस्थ करते हैं।

यह बड़ा तात्त्विक संकेत है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में हम जिसे अच्छाई कहते हैं, उसमें तो अच्छाई है ही, लेकिन जिसे हम बुराई समझते हैं, उसमें भी अमृतत्व छिपा हुआ है। दूध में वह प्रत्यक्ष है, परन्तु शंखिया में वह छिपा हुआ है। अब यह वैद्य की कुशलता है कि उस विष के मारक तत्व को मिटाकर अमृतत्व को प्रगट कर दे। शंकरजी इस कला में निपुण हैं। उन्होंने तुरन्त उस विष से ऐसा रसायन बना लिया कि जिससे

सारा संसार जल रहा था, वह अमृत बन गया। वे तो त्रिभुवन गुरु हैं न ! रामायण में उनके लिए यही शब्द लिखा हुआ है – 'तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाने।' अन्य लोग तो संसार में कुछ लोगों के गुरु होते हैं, पर शंकरजी सारे संसार के गुरु हैं। और आगे चलकर रामचरितमानस में जहाँ पर मानस-रोगों की चिकित्सा के सन्दर्भ में वैद्य की बात कही गई है, वहाँ पर गोस्वामीजी कहते हैं – 'सतगुरु बैद बचन बिस्वासा।' सतगुरु ही वैद्य है। भगवान शंकर की भूमिका वैद्य की है। वैद्य जैसे शरीर के रोगों को दूर करते हैं, उसी तरह भगवान शंकर हमारे अन्तःकरण के रोगों को दूर करते हैं। वे हमारे जीवन के विष को अमृत, अमंगल को मंगल और कुरूप को सुन्दर बना देते हैं। यही उनकी विलक्षणता है। इसीलिए वे समस्त विपरीत वस्तुओं को धारण करते हैं और उन्हे आभूषण के रूप में परिणत कर लेते हैं।

रामायण में श्री भरतजी ने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। श्री भरत अपनी बड़ी निन्दा करते हैं। भगवान श्रीराम ने भरत की प्रसंशा करते हुए कहा, तुम्हारे समान सन्त और गुणवान संसार में और कोई नहीं है –

तीनि काल त्रिभुवन मत मोरें।
पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥ २/२६३/६

फिर उन्होंने भरतजी से पूछा – मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह ठीक है या नहीं ? भरतजी ने कहा – प्रभो ! यह कहने का महान दुस्साहस भला कौन करेगा कि आप ने ठीक नहीं कहा। – अगर मैं ठीक कह रहा हूँ तो भरत, तुम्हारा कहना सही नहीं है। तुम यह जो कहते रहते हो कि मैं सबसे बड़ा पापी हूँ, यह बात अब फिर कभी न कहना। भरतजी ने कहा – महाराज, आप जो कह रहे हैं, वह तो सत्य है ही, पर मैं जो कह रहा हूँ वह भी तो असत्य नहीं हैं। यह कैसे हो सकता है कि दोनों विपरीत बातें

एक साथ सत्य हों। या तो तुम्हारी बात सत्य होगी या फिर मेरी। तो श्री भरतजी ने कहा – महाराज, जैसे लोहे का एक टुकड़ा तो लोहा ही है। उसे कोई भी परीक्षा करके यही कहेगा कि यह लोहा है। पर यदि कोई उसे पारस के पास ले जाकर कहे कि आप इसकी परीक्षा करके बताइए कि यह क्या है, तब क्या होगा ? उसकी परीक्षा करने को पारस जैसे ही उसे अपने हाथ में लेगा, उसके स्पर्श से लोहा तुरन्त सोना हो जायगा। तो यह लोहे का चमत्कार है कि पारस का ? श्रीभरत कहते हैं – प्रभो, था तो मैं लोहा ही, पर अब लगता है कि पारस का स्पर्श हो गया है।

गोस्वामीजी लिखते हैं –

परसहि निरखि रामपद अंका।
मानहु पारस पायहु रंका॥

श्री भरत जब भगवान राम के चरण की रेखाओं को देखते हैं, तो उनको ऐसा लगता है कि यह तो पारस है। जिस पारस के स्पर्श से जड़ अहल्या चेतन हो गई। सब पाप नष्ट होकर पवित्रता का संचार हो गया। यह तो परखा हुआ पारस है। श्री भरत इस पारस को अपने हृदय से, अपने शरीर से छुलाते हैं। आगे चलकर गोस्वामीजी ने कहा कि जब भरतजी चित्रकुट से लौटकर अयोध्या आये, तो वहाँ वे निरन्तर तपस्या करने लगे। लोगों ने पूछा कि महाराज आपको तपस्या की क्या आवश्यकता है ? तपस्या का समग्र फल – राम को तो आप पा ही चुके हैं। श्री भरत बोले – मैं तो लोहा था, पर श्रीराम कहते हैं कि मैं सोना हूँ। वे तो पारस हैं। उनके स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है। मैं भी सम्भवतः उनके सपर्श से सोना हो गया हूँ, पर बार बार परख कर देखता रहता हूँ कि कहीं फिर से लोहा तो नहीं हो गया। गोस्वामीजी ने यही लिखा है – 'भरत भवन बसि तप तन कसहीं।' अपने शरीर को तपस्या पर कसकर देखते हैं। इसमें भरतजी का संकेत यही है

कि यह मन का लोहा एक बार सोना बनने के बाद पता नहीं कब फिर से लोहा बन जाय, इसका कोई ठिकाना नहीं। यह मन इतनी तेजी से बदलता है कि निरन्तर सजग न रहनेवाला व्यक्ति उसके द्वारा कभी भी छला जा सकता है। मन में एक बार सद्गुण और सद्भाव आ जाने पर भी निश्चिन्त होना ठीक नहीं है कि अब मेरा मन ठीक हो गया है, अब पतित नहीं होगा। इसीलिए श्री भरत जीवन भर निरन्तर मन को कसकर देखते हैं, हर क्षण सावधान रहकर देखते हैं कि प्रभु ने जिसे अपने स्पर्श से सोना बनाया है, वह आज भी सोना है कि नहीं। कहीं उसमें परिवर्तन तो नहीं हो रहा है। यही गोस्वामीजी का संकेत है। और इसी को दूसरे शब्दों में भरतजी ने कहा – 'दूषण से भूषण,' वे कहते हैं – जैसे किसी ने शब्द लिखा 'दूषण', और किसी दूसरे लेखक ने 'दू' को 'भू' बना दिया। तो परिणाम क्या हुआ ? वह दूषण शब्द अब भूषण पढ़ा जाने लगा –

कृपाँ भलाईं आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहु ओर॥ २/२९८

– महाराज, दूषण से भूषण बनानेवाले आप ही हैं। यह तो आपकी ही कृपा का फल है, मेरी विशेषता नहीं।

भगवान शंकर के सन्दर्भ में इस परिवर्तन की कथा बड़े महत्व की है। आयुर्वेदशास्त्र में एक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है, जिसमें कहा गया है कि संसार में ऐसी कोई वनस्पति या कोई पदार्थ नहीं है, जिससे कोई दवा न बने। आवश्यकता है तो उसमें छिपे हुए औषधीय गुण को जानने की। नई-नई खोजें होती रहती हैं। आप अगणित वस्तुओं के बारे सुनते रहते हैं कि इस वस्तु से एक नई दवा निकल आई। आज भी चिकित्सा-पद्धति में यह सुनने और पढ़ने को मिलता है कि फफूँद लगी हुई वस्तु से भी औषधि का निर्माण हो गया है। फफूँद को हम विकृति मानते हैं, पर खोज

की गई तो पाया गया कि उस विकृति में भी औषधीय तत्व छिपा हुआ है। भगवान शंकर की सबसे बड़ी विलक्षणता यही है। वे गुरु हैं। और गुरु का कार्य यही है कि वह शिष्य के गुणों का तो सदुपयोग करे ही, पर साथ ही उसके दोषों को भी गुणों में परिवर्तित कर दें। यही गुरु की विलक्षणता है। और यही विलक्षणता शंकरजी में विद्यमान है। इसे रामचरितमानस में बड़ी सांकेतिक भाषा में कहा गया है। जब हिमाचल के घर में पार्वतीजी का जन्म हुआ, तो एक दिन देवर्षि नारद पधारे। उन्हें देखकर हिमाचल और मैना ने साष्टांग प्रणाम किया और अपनी पुत्री को दिखाकर कहा –

त्रिकालग्य सर्बग्य तुम्ह गति सर्बत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदयँ बिचारि॥ १/६६

– महाराज, विचार करके बताइए, मेरी पुत्री में क्या-क्या गुण-दोष हैं ? देवर्षि नारद ने पार्वतीजी के हाथ को देखकर कहा – तुम्हारी पुत्री तो महान है –

सदा अचल एह कर अहिवाता।
एहि तें जसु पैहहिं पितु माता॥
होइहि पूज्य सकल जग माहीं।
एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥ १/६७/४-५

– इसका सुहाग सदा अचल रहेगा और इसके माता-पिता यश पाएँगे। ये सारे जगत में पूज्य होगी और इनकी सेवा करने पर कुछ भी दुर्लभ नहीं रहेगा। लेकिन हिमाचल सजग हैं। कहते हैं – महाराज, गुण तो बहुत सुन लिया, अब बताइए, क्या कोई दोष भी है ? नारदजी बोले – 'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी।' अब दो-चार जो अवगुण हैं, उन्हें भी सुन लो। तुम्हारी कन्या का विवाह एक ऐसे व्यक्ति से होगा जो –

अगुन अमान मातु पितु हीना ।
उदासीन सब संसय छीना ॥
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल वेष ।
अस स्वामी एहि कह मिलहि परी हस्त असि रेख ॥ १/६७

– गुणहीन, मानहीन, माता-पिता-विहीन, उदासीन, संशयहीन, योगी, जटाधारी निष्काम-हृदय, नंगा और अमंल-वेषधारी होगा। इसके हाथ में ऐसी रेखा पड़ी है। मैना तो सुनकर सिहर उठीं। क्या ऐसा वर मिलेगा कन्या को ? बड़ी दुखी हो गईं। नारदजी ने साथ साथ यह भी कह दिया –

कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार ॥ १/६८

– विधि ने जो भाग्य में लिख दिया है, उसे मिटाने की ताकत न देवता में हैं न दानव, न मनुष्य, न नाग और न मुनि में। उसे कोई नहीं मिटा सकता। बात बड़ी जटिल हो गई। क्या ? अगर कोई फल बतानेवाला कोई अनिष्ट फल बता दे और साथ साथ यह भी कह दे कि इससे बचा नहीं जा सकता, तब तो मैं कहूँगा कि उसका फल बताना बड़ा घातक है। क्योंकि अनिष्ट जब होता तब होता, वह व्यक्ति तो बिचारा सुनते ही उस अनिष्ट का फल भोगने लगा। फल बताने की सार्थकता तो यह नहीं है। अगर कोई डॉक्टर रोगी को यह बता दे कि तुम्हें यह रोग है और उसकी दवा न बता सके, तो उस डॉक्टर या वैद्य का यह बताना रोगी के लिए कितना घातक होगा ? रोगी बेचारा आतंक से ही मर जायगा। अतः प्रश्न उठता है कि नारदजी जैसे सन्त ने क्या केवल हस्तरेखा का चमत्कार दिखाने के लिए फल बता दिया ? नहीं, उन्होंने नई दृष्टि दी। यही तो सन्त की विलक्षणता है। सन्त ने एक महामन्त्र बता दिया। क्या ? एक तो उन्होंने यह कहा कि

विधाता ने जो भाग्य में लिखा है, उसे कोई मिटा नहीं सकता और उसके तुरन्त बाद कहते हैं –

जौ तपु करै कुमारि तुम्हारी।
भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ १/७०/५

– अगर तुम्हारी कन्या तप करे, तो शंकरजी भावी को मिटा सकते हैं। अब इन दोनों में से सही बात कौन सी है ? रामायण में दोनों ही बातें आई हैं। भावी मिट सकता है या नहीं ? तो उन्होंने एक सामंजस्य बताया। बोले – मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी कन्या तप करे और वह तप शंकर को पाने के लिए करे। इससे एक बहुत बढ़िया लाभ यह है कि जितने दोष मैंने बताए हैं, वे सब शंकरजी में दीख पड़ते हैं –

जे जे बर के दोष बखाने।
ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥ १/६९/३

यदि इसका विवाह शंकरजी से हो जाय, तो एक नई बात हो जायगी। क्या ?

जौ बिबाहु संकर सन होई।
दोषउ गुन सम कह सबु कोई॥ १/६९/४

अन्यत्र यदि किसी व्यक्ति में दोष होता है, तो वह दोष है, पर भगवान शंकर की विशेषता यह है कि वे दोषों को स्वीकार करके भी उसको अपने स्पर्श से गुण बना लेते हैं, अपना आभूषण बना लेते हैं, उसे भी धन्य कर देते हैं। अगर तुम्हारी कन्या शिव से विवाह कर लेती है, तो एक ओर ज्योतिषी को यह संतोष होगा कि भाग्य में जो लिखा है, वैसे सारे लक्षणवाला पति मिला। पर दूसरी ओर जब यह दृष्टि रहेगी कि जब साक्षात शिव ही पति के रूप में मिलेंगे, तो अवगुणों का इससे बढ़कर सार्थक सदुपयोग और क्या हो सकता है ?

इसीलिए सांकेतिक भाषा में कहा जाता है कि भगवान शंकर सर्पों का आभूषण धारण करते हैं। आयुर्वेद में बहुत सी औषधियाँ है, जो सर्पविष के द्वारा बनाई जाती हैं। अब प्रश्न यह है कि सर्प मारक है या जीवन देनेवाला ? तो अन्यत्र तो सर्प मारक है, पर भगवान शंकर के हाथ में वह मारक नहीं है। सर्प माने क्या ? विषधर। विष से मृत्यु हो जाती है। उस विषधर को भी वे अपना आभूषण बना लेते हैं। और उससे भी आगे, यह जो समुद्र से निकला हुआ विष है, जिससे कि सारा संसार जल रहा है, उसे पीकर वे आनन्दविभोर हो गए। भगवान विष्णु क्या बताना चाहते हैं ? जो लोग अमृत पीकर अमर होना चाहते हैं, उनकी दृष्टि अपूर्ण है। जो विष पीकर अमृतत्व की सृष्टि करना जानते हैं, उन्हीं की दृष्टि पूर्ण है। इसी की महिमा प्रगट करने के लिए भगवान विष्णु ने कहा था कि इस विष को भगवान शंकर के पास ले जाओ। और तब शंकरजी ने क्या किया ? गोस्वामीजी ने अपनी शैली में लिखा –

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमीको॥ १/१९/८

शंकरजी को जब विष दिया गया और ज्योंही उन्होंने उसे अपने मुँह में लिया, त्योंही उनके मुख से निकला 'राम'। लोगों ने पूछा – महाराज, यह विष के साथ आप राम को क्यों जोड़ रहे हैं ? शंकरजी ने कहा – भाई, विष के साथ राम को जोड़ देने से 'बिसराम' बन जाता है। यह सबसे बढ़िया बात है। विष के साथ राम को जोड़कर उन्होंने उसे बना दिया – 'अखिल लोक दायक बिश्रामा।' नाम महिमा में यही कहा गया है –

जो आनंद सिंधु सुख रासी।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥

सो सुखधाम राम अस नामा।
अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥ १/१९७/५६

– जो समस्त लोक के प्राणियों को विश्राम देने वाला है। भगवान शंकर का अभिप्राय क्या है ? विष में राम को मिला दीजिए तो विष भी विश्राम में परिणत हो जायगा। लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह है कि ऐसे भी अभागे लोग है, जो विश्राम से राम को निकाल देते हैं और विश्राम को भी अपने जीवन में विष बना लेते हैं। ऐसे लोगों के जीवन में विष को छोड़कर, दुःख एवं मृत्यु को छोड़कर और कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसका एक पक्ष और है। रामायण में इस ओर भी संकेत किया गया है। भगवान शंकर त्रिभुवन गुरु हैं। वैद्य हैं। वे विष को भी अमृत बना देते हैं। पर विडम्बना तो यह है कि योग्य से योग्य वैद्य प्राप्त होने मात्र से क्या रोगी स्वस्थ हो जाता है ? भगवान शंकर के समान महान वैद्य के प्रयास करने पर भी कुछ ऐसे रोगी हैं, जो स्वस्थ नहीं हुए। रोगों के सन्दर्भ में यह भी कहा गया कि एक अच्छा वैद्य मिलना भी बहुत बड़ी बात है, एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। लेकिन जिस समय प्रभु को विलाप करते देखकर भगवान शंकर ने उन्हें 'जय सच्चिदानन्द' कहकर प्रणाम किया, तो उन्हें देखकर सती के हृदय में संशय हो गया। भगवान शंकर सती का संशय दूर करने की चेष्टा करते है। पर बड़े आश्चर्य की बात है कि भगवान शंकर के प्रयत्न करने पर भी सती का संशय दूर नहीं हुआ। भगवान श्रीराम ने शंकरजी से पूछा कि जब सतीजी को भ्रम हो गया, तो आपने क्या किया ? उन्होंने कहा – प्रभो, मेरे भ्रम को दूर करने के लिए ही आपने सती के हृदय में संशय उत्पन्न किया। – आपका भ्रम क्या था ? बोले – महाराज, मैंने जब अगत्स्य मुनि से कथा सुनी, तो मेरे मन में आया कि चलकर आपका दर्शन करूँ। लेकिन मेरी बुद्धि

ने तुरन्त कहा कि अगर मैं दर्शन करने जाऊँगा, तो भगवान का सारा नाटक बिगड़ जायगा। भगवान ने मनुष्य-रूप में जन्म लिया है और मैं जाकर प्रणाम करूँगा, तो लोग देखेंगे और सोचेंगे कि अरे, जिसे शंकरजी प्रणाम कर रहे हैं वे तो मनुष्य नहीं हो सकते, श्रीराम अवश्य ही भगवान हैं। इस तरह लोगों के जान जाने पर उनका नाटक बिगड़ जायगा। इसलिए मुझे उनके पास नहीं जाना चाहिए। यह सोचकर मैंने दूर से ही प्रणाम कर लिया। लेकिन आपने दिखा दिया कि वह मेरा भ्रम मात्र था। मुझे प्रणाम करते देख संसार के लोगों की तो बात ही छोड़िए, मेरी पत्नी – जो मेरी शिष्या भी है, जो मेरे साथ थी, मुझे प्रणाम करते देख मुझसे पूछा और मैंने उसे बताया भी कि श्रीराम साक्षात सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं। पर वह नहीं मान पाई। उसे इतना दृढ़ संशय हो गया कि रोनेवाला राम ईश्वर कैसे हो सकता हैं ? मेरे समझाने पर भी नहीं समझ पाई तो भला बताइए न कि मैं कितने भ्रम में था कि मुझे प्रणाम करते देख लोग जान जाएँगे कि राम ईश्वर हैं। मेरे इस भ्रम को दूर करने के लिए ही तो आपने सती के अन्तःकरण में संशय की सृष्टि की है। अब मेरी समझ में आ गया है, कि मेरे प्रणाम करने से कोई फर्क नहीं पड़ता, चाहे मैं लाख प्रणाम क्यों न करूँ। जब तक आप किसी को जना नहीं देंगे, तब तक आपको कोई जान नहीं सकता –

सोइ जानइ जेहि देह जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥ २/१२७/३

(क्रमशः)
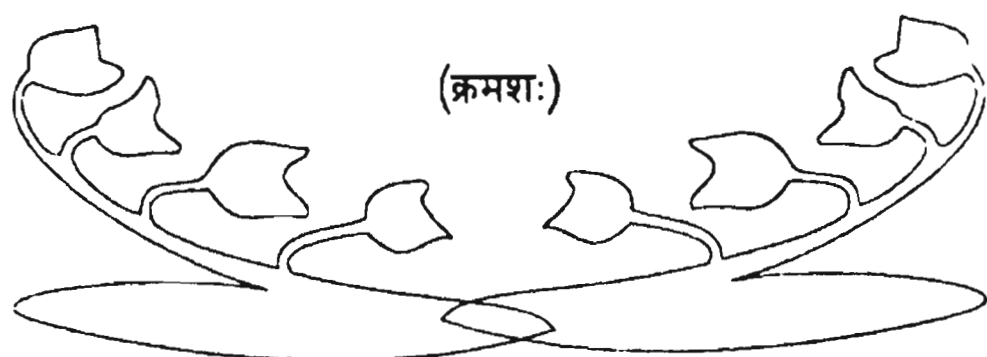
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा और भारत का भविष्य

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने उपरोक्त विषय पर रामकृष्ण मिशन आश्रम, मालदा में एक विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया था, जो संघ के बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के बंगला संवत् १३७४ के किसी अंक में मुद्रित हुआ। प्रस्तुत है वहीं से उसका प्रमाणित हिन्दी अनुवाद। - सं०)

प्रारम्भ में मानव असभ्य था और पशु-पक्षियों के ही समान वन, पर्वत, गुहा में निवास किया करता था। तो भी अन्य जन्तुओं के साथ उसमें भेद था। वह भेद यह था कि भगवान ने उसे विचारशक्ति दी थी और पशुओं को नहीं। उसी विचारशक्ति के सहारे मनुष्य धीरे-धीरे अग्रसर होता हुआ उन्नत से उन्नततर होता गया। क्रमशः वह सभ्य हुआ, उसने घर-द्वार का निर्माण किया, समाजगठन और राज्यशासन की शुरुआत हुई तथा उसने राजा का निर्वाचन कर नियम-कानून बनाकर उनका पालन करते हुए वह जीवन-यापन करने लगा। परन्तु तब तक उसकी विचारशक्ति स्थूल इन्द्रिय-जगत तक ही सीमित रही। भोग के लिए उसने बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं, सुन्दर उद्यान-वाटिकाओं, साहित्य-काव्य, नृत्य-गीत आदि तथा और भी कितनी ही चीजों का निर्माण किया। परन्तु उसकी यात्रा यहीं समाप्त न हुई। वह इस जगत् का रहस्य भेदन करना चाहता था – जगत क्या है? इसके पीछे क्या है? इसे कौन चला रहा है? अपनी विचारशक्ति के साथ वह इस अनुसंधान-कार्य में लगा रहा। सत्य की यह खोज क्रमशः उसे अन्तर्जगत की ओर ले गयी और अन्त में उसने आत्मज्ञान की उपलब्धि की। तब उसे अपनी यात्रा का अंतिम पड़ाव मिला। यह है मनुष्य के क्रमविकास का इतिहास।

इतिहास के पन्नों का अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र की सभ्यता की पृष्टभूमि में किसी एक महापुरुष का जीवन है। उनके उपदेशों पर चलकर ही वह देश आगे बढ़ा है। फिर जब वह शक्ति क्षीण हो गयी तो वह सभ्यता भी नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। दो हजार वर्षों पूर्व भूमध्यसागर के तट पर अवस्थित रोमन सभ्यता की खूब प्रसिद्धि थी। बाद में वे गल नामक एक बर्बर जाति के हाथों ध्वंश को प्राप्त हुए। गलों ने रोमन सभ्यता को मटियामेट कर डाला। ठीक उन्हीं दिनों फीलीस्तीन में ईसा मसीह का आविर्भाव हुआ। उनके दस-बारह शिष्यों तथा प्रशिष्यों ने सम्पूर्ण यूरोप तथा भूमध्यसागरीय देशों में उनका आदर्श प्रसारित किया, जिसके फलस्वरूप एक नई सभ्यता का उदय हुआ। रोमन सभ्यता के मलबे पर पाश्चात्य सभ्यता की सृष्टि हुई। सन् १६०० ई. तक समस्त यूरोप में पुनः शान्ति का साम्राज्य फैल गया। मनुष्य शान्ति व निश्चिन्ततापूर्वक खाने-पीने, पहनने व निवास करने लगा।

जब मनुष्य सुख-समृद्धि में रहता है तो उसे भगवान की विस्मृति हो जाती है। यूरोप ने भी, जिस आदर्श को अपना कर शान्तिलाभ किया था, उसे वह भूलने लगा। उसी समय विज्ञान के आविष्कार होने शुरू हुए और धीरे-धीरे मनुष्य पंचेन्द्रियों से अतीत वस्तुओं की सत्ता को ही नकारने लगा। फलस्वरूप नास्तिकता बढ़ने लगी। आज की पाश्चात्य सभ्यता कहाँ तक जा पहुँची है वह हम प्रत्यक्ष देख पा रहे हैं। यही समय था जब एक महामानव के आगमन की जरूरत थी और भगवान श्रीरामकृष्णदेव आविर्भूत हुए। और इसके साथ ही पुनः नवीन सभ्यता के बीज बिखर गये। श्रीरामकृष्णदेव का पुनीत जीवन व वाणी ही है वह बीजराशि।

श्रीरामकृष्णदेव बंगाल के एक ऐसे सुदूर ग्रामांचल में आये थे, जहाँ पाश्चात्य-सभ्यता का लेश तक न पहुँचा था। बाद में वे माँ काली के पुजारी होकर दक्षिणेश्वर आये। वहाँ पर आकर वे भगवत्प्राप्ति के लिये अविराम साधना में लग गये और अन्त में उन्हें भगवान का दर्शन हुआ। उन्होंने अपनी प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा जगत के समक्ष यह प्रमाणित किया कि ईश्वर का अस्तित्व है। इधर स्वामी विवेकानन्द (तब नरेन्द्रनाथ) पाश्चात्य विचारधारा में शिक्षित होकर सभी से भगवान के अस्तित्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हुए भटक रहे थे। परन्तु कहीं भी उन्हें अपनी समस्या का समाधान न मिला। श्रीरामकृष्ण के पास आकर जब उन्होंने वही प्रश्न किया तो वे बोले – "मैंने भगवान को देखा है, उतना ही स्पष्ट रूप से, जैसे तुम्हें देख रहा हूँ। चाहो तो तुम्हें भी दिखला सकता हूँ।" उनके संस्पर्श में आकर स्वामीजी का अविश्वास दूर हो गया। उन्होंने ठाकुर का भाव स्वीकार किया। स्वामीजी के भीतर मानो पूरब और पश्चिम का मिलन हुआ।

श्रीरामकृष्णदेव ने अपनी ईश्वरानुभूति के द्वारा इस युग के वैज्ञानिक मनोवृत्ति संपन्न मानव का संदेह भंजन किया। और सिर्फ इतना ही नहीं अपितु उन्होंने यह भी दिखाया कि सभी धर्मों के द्वारा भगवान की प्राप्ति संभव है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत शैव, वैष्णव, शाक्त आदि जितने भी सम्प्रदाय हैं, उन्होंने सभी की साधना की। ईसाई, इस्लाम आदि अन्य धर्ममतों की भी साधना करके उन्होंने दिखाया कि सभी धर्म मनुष्य को एक ही जगह पहुँचाते हैं। भगवान असीम है, फिर भेदभाव क्यों ? असीम को भाषा की सीमा में व्यक्त करने पर भेद की प्रतीति होती है। उन्होंने कहा था कि ब्रह्म कभी भी उच्छिष्ट नहीं होते (क्योंकि वे अवर्णनीय हैं)। उनके शिष्यों ने उनसे पूछा था कि निर्विकल्प

समाधि की अवस्था में आपको क्या अनुभव होता है ? वे बोले – मैं तो कहना चाहता हूँ रे ! परन्तु माँ मेरा मुख दबा देती है। जैसे एक गूँगा व्यक्ति मिठाई खाने के बाद उसका स्वाद दूसरों को नहीं बता सकता, वैसे ही जिसे ब्रह्मज्ञान हुआ है वह ब्रह्म को भाषा में नहीं व्यक्त कर सकता। असीम को सीमित भाषा के माध्यम से नहीं समझाया जा सकता।

सारे विश्व में धर्म को लेकर जो मारपीट और खूनखराबी होती है, वह इसी असीम को ससीम भाषा में व्यक्त करने को ही लेकर है। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा – सभी धर्म सत्य हैं। किसी भी धर्म-मार्ग पर चलकर हम उसी एक लक्ष्य पर पहुँचते हैं। सम्पूर्ण जगत में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है – सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इस जगत में हम जो कुछ भी देखते हैं, वह नाम रूप मात्र हैं। उन्होंने जगत की ब्रह्ममय अनुभूति की, अतः उनके लिये सब कुछ अपना ही है। यही कारण है कि चाहे कोई पापी हो या पुण्यात्मा, स्वदेशी हो या विदेशी, सभी को वे अपना बना सके थे। वे जगत में सभी चीजों व लोगों के पीछे अवस्थित एक ही आत्मा का दर्शन करते थे।

स्वामीजी को भी उनके पास आने पर यही बोध हुआ। सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए अवलोकन करने के बाद वे शिकागो गये। भारतवर्ष पहले भी कई बार विश्व को शान्ति की वाणी सुना चुका है। इस बार भी स्वामीजी सारे जगत में वही शान्ति-वाणी सुनाने को गये। भारत के भाग्यविधाता ने ही उन्हें इस कार्य के लिये प्रेरित किया था। तीन-चार वर्षों तक सम्पूर्ण अमेरिका का भ्रमण करते हुए स्वामीजी ने देखा कि वहाँ भोग्य वस्तुओं की बहुतायत है, उन्हें जरूरत है तो सिर्फ धर्म की और भारतवर्ष में घूमते हुए उन्होंने देखा था कि इस देश भोजन-वस्त्र का ही अभाव है और धर्म की कमी नहीं है। अतः उन्होंने पश्चिम

का जड़वाद और पूरब का धर्मजीवन – इन दोनों आदर्शों का समावेश कर जगत के सम्मुख एक नया आदर्श प्रस्तुत किया। इस नवीन आदर्श को उन्होंने सूत्र रूप में व्यक्त किया – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – अपनी मुक्ति तथा जगत की भलाई के लिये। वे जानते थे कि भारतवर्ष का आदर्श धर्म का आदर्श है। धर्म को पकड़कर रखना होगा। इसीलिये उन्होंने शिवज्ञान से जीवसेवा का उपदेश दिया। उन्होंने कहा – जो कुछ भी करना भगवान की उपासना समझकर करना। इसी दृष्टिकोण के साथ हमें जनहित के कार्यों में प्रवृत्त होना होगा। धर्म के अतिरिक्त शान्ति-लाभ का दूसरा कोई उपाय नहीं हैं। पाश्चात्य देशवासी समाज-कल्याण के लिये करोड़ों रुपये खर्च करने के बाद भी शान्ति नहीं पाते, क्योंकि इस सेवा के पीछे कोई आध्यात्मिक आदर्श नहीं है। इसीलिये स्वामीजी ने उनके लिये ज्ञान का भंडार खोल दिया और उन्हें अच्छी तरह समझा देने का प्रयास किया कि धर्म को छोड़ देने से कुछ भी नहीं रहेगा।

रामकृष्ण मिशन के भक्त और संन्यासियों के समक्ष विशेष रूप से वे यह नया आदर्श रख गये हैं। हम लोग जो कुछ भी कार्य करते हैं – स्कूल, अस्पताल, राहत-कार्य आदि सबकुछ इसी आदर्श की नींव पर आधारित है। इसीलिये हमारे सभी कार्य पूजा के समान हैं। स्वामीजी का यही उपदेश था। कोई भी कार्य यदि तुम उपासना के रूप में कर सको तो उसी से तुम्हारी मुक्ति होगी। यही आदर्श लेकर हम यदि लोगों की सेवा में तत्पर हों तो दोनों ओर से हमारी रक्षा होगी। एक ओर तो हमारी आध्यात्मिक उन्नति होगी और साथ ही समाज की सेवा भी। उदाहरण के लिये इस्पात के कारखाने का लक्ष्य है – इस्पात का उत्पादन। परन्तु उसके साथ कुछ और भी चीजें पैदा हो जाती हैं, जिनकी बाजार में कीमत है, तथापि उस वस्तु का उत्पादन

करना इस्पात-उद्योग का लक्ष्य नहीं है। ठीक उसी प्रकार हमारा लक्ष्य है – ईश्वर-प्राप्ति, न कि समाजसेवा। स्वामीजी ठीक ढंग से आदर्श दिखा गये हैं। स्टील का उत्पादन करके जिस प्रकार by-product (गौण-उत्पादन) निकलता है, ठीक वैसे ही हमारे ईश्वर-प्राप्ति के उद्देश्य से किये गये कर्म से भी by-product निकलता है। यह बात भूलकर हम हानि उठाते हैं। हममें से हर एक को यही आदर्श पकड़कर चलना होगा। मुक्तिलाभ ही हमारा प्रधान उद्देश्य है। इस आदर्श को चारों ओर फैला देना होगा। भक्तों और साधुओं के परस्पर सहयोग के बिना यह कार्य आसानी से नहीं किया जा सकता। यह उत्तरदायित्व हमारे सिर पर हैं जिसे भूल जाने से काम नहीं चलेगा। हमारे National life में, समग्र राष्ट्र के जीवन में स्वामीजी ने यह भाव लाना चाहा था। राजनीति, समाजनीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में, सर्वत्र धर्म का प्रभाव लाना होगा। वे आत्मज्ञानी थे, इसीलिये उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को जागरण का संदेश दिया। वही भाव सबके भीतर, ठीक ठीक प्रचार करना होगा। श्री ठाकुर का आदर्श जीवन, स्वामीजी सारी धरती पर प्रचार कर गये। स्वामीजी विश्व के समक्ष एक मूर्तिमंत उदाहरण है।

अब हम देखेंगे कि श्रीमाँ जगत को क्या दे गयीं। दक्षिणेश्वर में रहकर वे दाम्पत्य प्रेम का आदर्श दिखा गयी हैं। क्या वे सिर्फ यही आदर्श दिखाने को आयी थीं ? ऐसी बात नहीं। श्रीरामकृष्णदेव के देहत्याग के बाद भी वे चौंतीस वर्षों तक जीवित रहीं। वे जगत को मातृभाव का आदर्श दिखाने आयी थीं। उनके भीतर इसके अतिरिक्त और क्या था ? और था रामकृष्ण मठ और मिशन का संगठन। इस बात को आप लोग अवश्य ही जानते होंगे। श्री ठाकुर के लीलासंवरण के उपरांत वे बुद्धगया दर्शन को गयीं। वहाँ पर बौद्ध-संन्यासियों का मठ देखने

के बाद उन्होंने ठाकुर से प्रार्थना की थी कि उनके लड़कों के लिए भी उसी प्रकार रहने की व्यवस्था हो जाय। इसी के फलस्वरूप आज बेलुड़ मठ है। उनके देहांत के उपरांत उनके वैराग्यवान संतानगण इधर-उधर छितरा जाते और उन्हें संघबद्ध कर रखना असंभव होता। स्वामीजी जब पाश्चात्य देशों में गये तो वे श्रीमाँ की अनुमति लेकर गये थे। ठाकुर के सभी सन्तान माँ के प्रति भक्तिमान थे। ठाकुर जब दक्षिणेश्वर में थे तो संसार की ओर उनकी जरा-सी भी दृष्टि न थी। परन्तु संसारी भक्तों को गृहस्थी के बारे में वे बहुत सारे उपदेश दे गये हैं। श्रीमाँ यदि न होती तो इस सम्बन्ध में हमारे मन में अनेक प्रश्न उठते। इसीलिये वे माँ को छोड़ गये, इन उपदेशों को जीवन में उतार कर दिखलाने के लिये। ठाकुर के महानिर्वाण के बाद माँ ने कितने कष्ट उठाकर कामारपुकुर में निवास किया था। माँ के भाइयों की गृहस्थी के बारे में भी आप लोग जानते हैं। वे लोग घोर संसारी थे। एक दृष्टान्त दे रहा हूँ – जयरामबाटी में माँ के घर में जल का कष्ट देखकर एक भक्त ने कुआँ खुदवा देने की इच्छा व्यक्त की थी। इस पर माँ के भाइयों ने उनको कहा था – "तुम्हारे जमीन ही कहाँ हैं ? कुआँ बनवाने के लिये जमीन लेने पर उसी जमीन पर रुपये बिछाकर देना होगा।" माँ ने इतना सब सहते हुए भी अनेकों वर्ष अपने भाइयों के साथ बिताये। और इस प्रकार वे भक्तों को यह दिखा गयीं कि भगवत्प्राप्ति का उद्देश्य लेकर संसार में किस प्रकार रहना होगा। अपना जीवन दिखाकर वे जगत में आदर्श स्थापित कर गयीं। मठ में कोई आने पर बाबूराम महाराज उसे कहा करते थे – "जाओ जयरामबाटी में जाकर देख आओ, वहाँ बैकुण्ठ की लक्ष्मी बैठकर धान कूट रही हैं, घर लीप रहीं हैं और भक्तों की सेवा कर रही हैं।"

जगत में एक के बाद एक, अनेक आदर्श आये । परन्तु वर्तमान युग में स्वामीजी के Ideal (आदर्श) को ही अच्छी तरह पकड़कर रखना होगा । उनकी जन्मशताब्दी के समय हमारे राजनीतिज्ञों, शिक्षाविदों और विचारकों ने इसी विषय पर चिंतन किया । उन्होंने स्वामीजी के आदर्श पर जोर दिया । आप लोग यह जानकर आनन्दित होंगे कि सुदूर अवस्थित फिनलैन्ड नामक देश से वहाँ के एक भूतपूर्व मंत्री आये थे । उनसे बातचीत करने पर मुझे दिखा कि उन्होंने भी स्वामीजी की ग्रंयावली हमारी भाँति ही पढ़ी है । वे बोले कि वे लोग भी स्वामीजी के ग्रंथों का अध्ययन करते है और स्वामीजी के Ideal (आदर्श) को शक्तिप्रद समझकर जीवन में अपनाते हैं । मध्य-पूर्व (middle-east) से व्यवसाइयों का एक दल, केरल के हमारे एक आश्रम में आया था । उन्होंने बतलाया कि वे लोग स्वामीजी की पुस्तकें पढ़ते हैं और उनका एक Study Circle (अध्ययन-मण्डल) है, जहाँ वे नियमित रूप से उस पर विचार-विमर्ष भी करते हैं । ईरान में भी उनकी वाणी का सम्मान हुआ है । ईरान के एक विशिष्ट धनाढ्य सज्जन, जिन्होंने स्वयं ही वहाँ एक विश्वविद्यालय बनवाया है, जब बेलुड़ मठ देखने आये थे तो हम लोगों से बोले कि हमारे देश में भी एक Centre (केन्द्र) बनाइये । उसका सारा खर्च मैं वहन करूँगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ठाकुर कहाँ कहाँ और क्या क्या कर रहे हैं । इसीलिये तो स्वामीजी ने कहा था – "Ramakrishn -idal" (श्रीरामकृष्ण का आदर्श) जगत की एकमात्र प्राणशक्ति है और भारतवर्ष श्रीरामकृष्ण का है ।" हमें राजनीति, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रों में इसी आदर्श के साथ आगे बढ़ना होगा ।

आजकल हमारी नारियाँ पढ़ना-लिखना सीख रही हैं, दफ्तर में, कोर्ट में, राजनीति में, संसद में, सरकार में, सभी क्षेत्रों में कार्य करते हुए वे अपनी उन्नति का प्रयास कर रही हैं । यह

सचमुच ही आनन्द की बात है। इतने दिनों तक वे रसोईघर में ही आबद्ध रही हैं। परन्तु यदि वे भारतीय नारी का आदर्श भूल जायें, तो यह एक अत्यन्त दुर्भाग्य की बात होगी। श्रीमाँ सारदादेवी अपने जीवन में जो मातृभाव, त्याग व सेवा का आदर्श दिखा गयी हैं, उन्हें अपनाकर चलने से हमारे कष्ट दूर होंगे।

ठाकुर, माँ और स्वामीजी अपने जीवन में जो आदर्श दिखा गये हैं उसे पालन करना ही होगा। अन्यथा अन्य किसी भी उपाय से भारत की उन्नति नहीं हो सकती। जो कोई भी, जो कुछ भी कहे, हमारे देश में कोई अन्य विदेशी आदर्श नहीं चलेगा। 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' – ठाकुर और स्वामीजी का यह आदर्श पकड़कर ही हमें अग्रसर होना होगा, ताकि हम अपनी मुक्ति भी प्राप्त कर सकें और साथ ही जगत की सेवा भी कर सकें। मैं ठाकुर, माँ और स्वामीजी से यह प्रार्थना करता हूँ कि वे हमें शक्ति दें, जिससे कि हम उनके आदर्शों पर चल सकें।

जड़ और चेतन

मैं एक प्रकार का भौतिकवादी हूँ; क्योंकि मेरा विश्वास है कि केवल एक ही वस्तु का अस्तित्व है। आधुनिक भौतिकवादी भी यही कहते हैं, पर वे उसे जड़ के नाम से पुकारते हैं और मैं उसे 'ब्रह्म' कहता हूँ। ये भौतिकवादी कहते हैं कि इस 'जड़' से ही समस्त आशा, धर्म तथा सब कुछ प्रसूत हुआ है और मै कहता हूँ कि 'ब्रह्म' से ही सब कुछ हुआ है।

– *स्वामी विवेकानन्द*

स्वामी ब्रह्मानन्दजी से वार्तालाप (२)

संकलक : श्री चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय

(श्रीरामकृष्णदेव के एक प्रमुख शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज के वार्तालाप का पूर्वार्ध आपने पिछले अंक में पढ़ा। प्रस्तुत है उसका उत्तरार्ध। बँगला से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी ने, जो रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में सेवारत हैं। - सं.)

एक शनिवार को तीसरे प्रहर लगभग ४ बजे बागबाजार में बलराम बसु के भवन की पहली मंजिल पर जाकर मैंने देखा कि पूजनीय स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज हाल में दक्षिण की ओर मुख करके बैठे हुए हैं। उनका मुखमण्डल धीर, स्थिर एवं गम्भीर था। यद्यपि वे उपस्थित कुछ लोगों के साथ वार्तालाप कर रहे थे, तथापि शान्त, अन्तर्मुखी एवं आत्मसमाहित भाव में डूबे हुए थे। उनके प्रशान्त मुख पर एक अद्भुत ज्योति, गाम्भीर्य तथा प्रसंन्नता का एक अपूर्व सम्मिश्रण दिखाई दे रहा था। उन नित्यमुक्त ब्रह्मविद् महापुरुष को भक्तिपूर्वक प्रणाम करके मैं वहीं एक ओर बैठ गया।

एक सज्जन ने श्री महाराज से प्रश्न किया – "महाराज, आप लोग कहते हैं कि समस्त कामना-वासना त्याग करके सोलहों आने मन से साधना में डूबे बिना ईश्वर-लाभ नहीं हो सकता, सर्वत्यागी संन्यासी ही ऐसी कठोर साधना के योग्य हैं। परन्तु हम तो गृहस्थ हैं, हमें स्त्री-पुत्र, धन-संपत्ति आदि लेकर रहना पड़ता है। संसार के विभिन्न झंझटों में हमारे जीवन का सारा समय खर्च हो जाता है। अतः हम कब भगवान को पुकारें ? हमारे लिए आखिर क्या उपाय है ?"

महाराज – "सोलहों आने मन के साथ सर्वदा साधना में लगे बिना कभी ईश्वर-लाभ नहीं हो सकता कामना का एक कणमात्र भी रहते, इस पथ पर उन्नति नहीं हो सकती। जो समस्त भोगसुख त्यागकर एकाग्र मन से साधना में लगे हुए हैं, वे

ही ईश्वर लाभ करेंगे। त्याग, संयम एवं पवित्रता के बिना कभी धर्मलाभ नहीं होता। कम उम्र के युवकों का मन निर्मल है। संसार की भोग-वासना की छाप उनके मन पर अभी नहीं पड़ी है। उनके लिए ही मैं इस तरह की योग-साधना का उपदेश देता हूँ। गृहस्थों का साधन-पथ भिन्न है। उन्हें स्त्री-पुत्रादि के साथ संसार में रहना पड़ता है। संसार चलाने के लिए उन्हें धनोंपार्जन करना पड़ता है। उनके पास बहुत कम समय बचता है। अतः गृहस्थों को योग, ध्यान, प्राणायाम आदि का उपदेश देने से कोई फल नहीं होगा। यह बात सत्य है कि सम्पूर्ण त्याग-वैराग्य के बिना ईश्वर को पाया नहीं जा सकता। तथापि गृहस्थों को चाहिए कि वे अपना मन यथासम्भव भगवच्चिन्तन में लगाए रखें। कार्य में व्यस्त होने पर भी भगवान का स्मरण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त सारे दिन में कुछ समय भगवच्चिन्तन में लगाना उचित है। प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा भगवान का चिन्तन करते रहने से क्रमशः मन पर एक संस्कार पड़ जाता है। भगवान से कातर होकर प्रार्थना करने पर वे सचमुच ही मनुष्य को अन्त समय में संसार के झमेलों से छुटकारा दिलाते हैं।"

उन सज्जन ने कहा – "महाराज, हमारा मन इतना चंचल और अस्थिर है कि इसे भगवच्चिन्तन में लगाना कठिन है। भगवान के प्रति हममें अनुराग कहाँ है ? हमारा मन ऐसा है कि भगवान की ओर जाना ही नहीं चाहता। एक तो हम संसार में रहते हैं और दूसरे मन सर्वदा सुख की आशा में भटकता रहता है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए क्या उपाय है ? हमारे लिए क्या कोई आशा नहीं है ? "

महाराज – "मन अभी चाहे जितना भी चंचल हो, तो भी प्रतिदिन भगवन्नाम का जप करते रहना होगा। प्रतिदिन कुछ समय नियमपूर्वक नाम-जप करते करते, कुछ दिन बाद उस ओर

एक आकर्षण अवश्य पैदा होगा। इच्छा या अनिच्छपूर्वक, समय-बेसमय, चाहे जैसे भी भगवान का नाम लिया जाय, तो उसका एक अच्छा फल होता ही है। मन चंचल तथा अस्थिर है, इसलिए क्या हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहोगे ? अभी से लग जाओ। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर अन्ततः दो-एक घंटे भगवान का नाम-जप करो। वैसे शुरू शुरू में अच्छा नहीं लगेगा, किन्तु रोज अभ्यास करते रहने पर कुछ दिन बाद उसका फल अवश्य होगा। थोड़ा नियमपूर्वक प्रतिदिन भगवान को पुकारने पर देखोगे कि मन में क्रमशः आनन्द आ रहा है। भगवान के नाम की ऐसी शक्ति है कि इस नाम-जप के फलस्वरूप क्रमशः मन का मैल दूर हो जाता है। जो मन अभी इतना चंचल है, वही मन अपने आप जप करना चाहेगा।"

गृहीभक्त – "महाराज, आपकी बात सत्य है। पर इच्छा होते हुए भी कई बार हम भगवान को पुकार नहीं पाते। कभी कभी कुछ सांसारिक कार्य अचानक ऐसे आ पड़ते हैं कि भगवान को पुकारने की बात विस्मृत हो जाती हैं। तरह-तरह के कार्य करते करते ही सारा दिन बीत जाता है। ऐसा अवसर नहीं मिलता कि दो घड़ी स्थिर होकर भगवान को पुकारूँ। ऐसी स्थिति में क्या करूँ।"

महाराज – "यह बात तो ठीक है, लेकिन जानते हो ? इच्छा रहे तो भगवान को पुकारने का समय निकाला जा सकता है। अन्तर में वास्तविक इच्छा होने पर भगवान को पुकारने का समय पाना कठिन नहीं होता। असल बात क्या है जानतें हो ? ठीक ठीक अनुराग हुए बिना भगवान को पुकारने का प्रयास ही नहीं होता। उत्साह नहीं है, इसलिए तुम लोगों को साधन-भजन के लिए समय नहीं मिलता।"

गृहीभक्त – "महाराज, कार्य के चंगुल में फँसकर हमारी ऐसी स्थिति हो गई है कि हजार कोशिश करने पर भी हम लोग कुछ कर नहीं पाते।"

महाराज – "यह तो तुम्हारी एक Lame Excuse (बहानेबाजी) है। एक बार आत्म-निरीक्षण करके देखो न। सांसारिक कर्म करने में तुम्हारा जो उत्साह है, उसका हजारवाँ भाग भी क्या भगवान के लिए है ? भगवान के प्रति आकर्षण न होने पर, चाहे हजार फुर्सत क्यों न हों, लोग उन्हें पुकारना नहीं चाहते। लोग सफाई देते हैं, 'समय नहीं मिलता, उन्हें कब पुकारूँ ?' लेकिन मैंने देखा है कि बेकार के गपशप करने, दिन में सोने और तास-पाशा आदि खेलकर समय बर्बाद करने में उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। सांसारिक काम-काज करने के बाद भी यथेष्ट समय मिलता है। उस समय में यदि भगवान को पुकारें या सद्ग्रन्थ का पाठ करें, तो भी पर्याप्त उन्नति होती है। किन्तु काल के प्रभाव से मनुष्य का स्वभाव ऐसा हो गया है कि हजार फुर्सत होने पर भी लोग भगवान में मन लगाना नहीं चाहते। स्त्री-पुत्र की देखरेख करना तुम्हारा कर्तव्य है। लेकिन चौबीस घण्टों के दौरान क्या एक घण्टा भी भगवान को पुकारने के लिए नहीं मिल सकता ? वैसे मैं यह नहीं कहता कि सभी गृहस्थ दिन-रात संसार में डूबे हैं। गृहस्थों में भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो ठीक ठीक विश्वासी तथा भक्तिमान हैं। संसार के हजारों कार्यों के बीच भी वे सदा देखते रहते हैं कि कब भगवान को पुकारने का अवसर मिलेगा।"

गृही भक्त – "महाराज, संसार में रहकर भी भगवान में मन को लगाये रखनेवाले भला कितने लोग हैं ? ऐसे लोग तो बहुत कम ही देखने में आते हैं।"

महाराज – "अच्छों की संख्या सर्वदा कम ही होती है। केवल गृहस्थ ही क्यों, साधु-संन्यासियों में भी कितने लोग ठीक से

साधन-भजन करते हैं ? केवल एक गेरुआ धारण करने से ही क्या मुक्त पुरुष हो जाएगा ? कितने लोग पूर्ण वैराग्य के अधिकारी हो सकते हैं ? महामाया की ऐसी माया है कि घर-द्वार त्यागकर साधु बनने पर भी बहुत से लोग साधन- भजन में मनोयोग नहीं करते, दिन भर हो-हल्ला करते इधर-उधर घूमते रहते हैं। गृहस्थों की हालत तो और भी खराब है। पूरे मन से भगवान को कितने लोग पुकार रहे हैं ? साधन-भजन क्या चालाकी से हो सकता है ? मुख से सभी भगवान भगवान करते हैं, लेकिन साधना के लिए प्रयत्न कौन करना चाहता है ? साधन-भजन में लगे रहना जिस-तिस का काम नहीं हैं। अनेक जन्म के शुभ संस्कार होने पर ही दस-बारह घण्टे एक आसन पर बैठकर ध्यान किया जा सकता है। सच्चा साधक लाखों में एक भी मिलेगा या नहीं, सन्देह है।

"मनुष्य यदि शान्ति पाना चाहता है तो उसे भगवान के शरणागत होना ही होगा। भगवान के बिना शान्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं। भगवान को पकड़े रहो तो शान्ति पाओगे। भगवान को भूले रहने पर कभी शान्ति नहीं मिलेगी। धन- दौलत तुम्हारे अभाव दूर कर सकता है, मान-सम्मान तथा आदर दिला सकता है, परन्तु वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए भगवान का आश्रय ग्रहण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं हैं।

"यह ठीक है कि एक दिन में ही मनुष्य साधक नहीं बन सकता। सब बहुत काल की साधना का फल है। परन्तु भगवच्चिन्तन का अभ्यास करने पर ही तो धीरे धीरे मन उनमें रमने लगेगा। मन की अवस्था जैसी भी हो, अभी से अभ्यास करो। तुम लोग गृहस्थ हो, उम्र भी हो गई है। कठोर साधना करने लायक शक्ति और समय तुममें नहीं है। भगवान के नाम में ऐसी शक्ति है कि उसी नाम के प्रभाव से मनुष्य के समस्त बन्धन दूर हो जाते हैं। ईश्वर की दया कब, किस पर, कैसे हो जाय,

कौन कह सकता है ? हजारों महापापियों का, इस नाम के प्रभाव से अल्पकाल में ही उद्धार हो गया है और तुम्हारा क्यों नहीं होगा ? जो होना था, सो हुआ, अब व्यर्थ अनुतप्त होने से कोई लाभ नहीं । अब से प्रतिदिन उन्हें पुकारना आरम्भ करो । धर्म करना थोड़ा-सा भी उत्तम है । अल्पमात्र धर्म से भी बहुत से पाप कट जाते हैं । हार्दिक इच्छा हो तो प्रयास करते करते सचमुच ही भक्ति-विश्वास आ जाएगा । आन्तरिकता के साथ कातर प्रार्थना करने पर मन का मैल दूर हो जाता है । यह सोचना गलत है कि गृहस्थों की कोई गति नहीं होगी । जो भी भगवान को तन्मय होकर पुकारेगा, उसी का उद्धार हो जायेगा ।

"वह सब weakness (दुर्बलता) छोड़ो, जैसे भी हो सके सर्वदा भगवान का चिन्तन करो । मन में बल लाओ, 'मैं उन्हें पुकारता हूँ, मेरा उपाय अवश्य होगा ।' 'मैं उनका नाम लेता हूँ, मेरा उद्धार अवश्य होगा' – इस तरह मन में बल लगाओ । उन पर जोर करो, बोलो, 'मैं तुम्हारा आश्रित हूँ, तुम यदि कृपा नहीं करोगे, तो मैं कहाँ जाऊँगा ?' इसी तरह उन्हें पुकारो, उनके नाम में उन्मत्त हो जाओ । वे दयामय है । आन्तरिकता से पुकारने पर उपाय अवश्य होगा ।"

अन्य एक दिन की बातें

एक भक्त – "महाराज मानव जीवन का उद्देश्य क्या है ? संसार में सभी भोग-सुख में व्यस्त दिखाई देते है । विषय-भोग के अतिरिक्त क्या जीवन में मनुष्य के लिए और कुछ कार्य नहीं हैं ?

महाराज – "केवल विषय-सुख लेकर पड़े रहना पशु का लक्षण है । भोग प्रवृत्ति में पशु ही मतवाले रहते हैं । इस भोग प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर आत्मज्ञान लाभ करने के कारण ही मानव श्रेष्ठ है । ज्ञान, पवित्रता आदि के कारण ही मनुष्य अन्य समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ है । मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है । मनुष्य

के अतिरिक्त और किसी प्राणी को भगवान ने आत्मज्ञान लाभ करने की शक्ति प्रदान नहीं की है। देवता भी आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकते। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए देवताओं को भी मनुष्य-जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस आत्मज्ञान को प्राप्त करने का जो प्रयास नहीं करता, उसका मनुष्य-जन्म वृथा है। आत्मज्ञान होने पर मनुष्य प्रकृति के बन्धन से पूरी तरह मुक्त हो जाता है। यह आत्मज्ञान लाभ करना ही मनुष्य जीवन का चरम उद्देश्य है।

"जो केवल आहार-निद्रा और विभिन्न भोग प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करता है, उसके जैसा अभागा और कोई नहीं। इस भव-बन्धन से, अविद्या से, मुक्त होने के लिए ही यह मनुष्य जन्म है। मनुष्य होकर यदि कोई केवल देह- सुख में ही लिप्त रहे, तो पशुओं से उसका भेद कहाँ हैं ? केवल स्वयं की स्वार्थसिद्धि में लगे रहने से कभी दुःख और अशान्ति दूर नहीं होंगे। सरल बनना होगा, पवित्र बनना होगा। स्वार्थपरता ही बन्धन है। स्वार्थपरता एवं बुरी कामनाओं का जिसने त्याग किया है, वही मनुष्य है। केंवल अपने स्त्री-पुत्र से प्रेम करना बन्धन का कारण है। सभी को समान रूप से प्रेम करने पर बन्धन कट जाता है।

"उसी का मनुष्य-जीवन सार्थक है, जिसमें ईर्ष्या, स्वार्थपरता नहीं है। जो सभी को हृदय से प्रेम करता है, जिसमें अपने-पराये का भेद नहीं है, वही ठीक ठीक साधु है। सभी मनुष्यों को प्रेम करना ही साधुता है। मानव को प्रेम किये बिना मनुष्य के भीतर जो हैं, उन्हें पाया नहीं जा सकता। जहाँ निस्वार्थ प्रेम, सरलता, पवित्रता है, वहीं भगवान हैं। भगवान को पाने के लिए अपने हृदय को प्रेम एवं पवित्रता से पूर्ण करना होगा। वे ही महापुरुष हैं, जो सबको समान रूप से प्यार करते हैं। जहाँ दया और प्रेम नहीं, वहाँ धर्म भी नहीं है।"

भक्त – "लोग तो अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बन्धु-बन्धुओं को इतना प्यार करते हैं, एक साथ मिल-जुलकर रहते है, फिर भी उनका मन पवित्र क्यों नहीं होता ? यदि प्रेम न होता तो वे एक साथ मिल-जुलकर कैसे रह पाते ?"

महाराज – "संसारी लोगों का प्रेम केवल नाम मात्र को है। उसमें जरा सी भी आन्तरिकता नहीं हैं। वह प्रेम है ही नहीं। वह है मोह अथवा स्वार्थसिद्धि के लिए प्रेम का दिखावा मात्र। संसारी लोग कभी किसी को हृदय से प्रेम नहीं कर सकते। वे अपना काम निकालने के लिए प्रेम का मुखौटा भर पहने रहते हैं। जब तक स्वार्थसिध्दि हो, तभी तक उन लोगों का प्रेम रहता है। अपने स्वार्थ पर आघात लगते ही उनका प्रेम चला जाता है। स्त्री-पुत्र, माँ-बाप, बन्धु-बान्धव किसी पर उन लोगों का प्रेम नहीं होता। जिस स्त्री के लिये इतना कष्ट उठाता है, उसी स्त्री को यदि कोई बड़ा रोग हो जाय, तो एक बार मुड़कर भी नहीं देखेगा। स्त्री की मृत्यु होने पर वह कुछ दिनों में ही उसे भूल कर, पुनः विवाह कर बैठता है। सन्तान के प्रति माँ-बाप का प्रेम भी उसी प्रकार का है। वृद्धावस्था में उनकी देखरेख करेंगे, यही स्वार्थ रहता है। इसीलिए वे बाल-बच्चों से प्यार करते हैं। पुत्र भी वैसे ही, विवाह हो जाने पर माँ-बाप की परवाह नहीं करता। तब वह केवल स्त्री के साथ ही व्यस्त रहता है। जिन माँ-बाप ने खिला-पिलाकर, लिखा-पढ़ाकर बड़ा किया, उन्हीं माता-पिता को एक मुट्ठी अन्न देने में भी उसे प्रसन्नता नहीं होती। मित्र-बन्धुओं, पड़ोसियों आदि का प्रेम भी इसी प्रकार का है। जब तक अपना मतलब है, तभी तक मित्रता रहती है। आवश्यकता पूरी हो जाने पर कोई किसी को याद नहीं करता। यही तो संसार है। यह क्या प्रेम है ? यहाँ सच्चा प्रेम कहाँ हैं ? केवल दुकानदारी और दुनियादारी है। मुख से कहते हैं 'प्रेम करता हूँ' – पर भीतर घृणा और ईर्ष्या है। तो भी

मायावश लोग सोचते है कि संसार में केवल सुख ही है। कितना सुख है – यह वे हाड़पर्यन्त जल-भुन जाने पर भी नहीं समझते। संसार में बिल्कुल भी सुख नहीं है। यहाँ सुख के वेश में दुःख ने अड्डा जमा रखा है। जहाँ सुख है, वहाँ दुःख भी है। भवबन्धन से मुक्त होने के लिए सुख-दुख के पार जाना होगा। सबको निःस्वार्थ भाव से प्रेम किये बिना दुःख और अशान्ति से मुक्ति नहीं मिल सकती।''

भक्त – "महाराज, तो क्या ठीक ठीक प्रेम करनेवाला कोई भी नहीं हैं ? यदि सच्चा प्रेम न हो तो लोग जीवित कैसे रहेंगे ?"

महाराज – "ठीक ठीक प्रेम कौन कर सकता है ? माँ-बाप, भाई-बन्धु सभी तो अपना अपना स्वार्थ लेकर दौड़-धूप कर रहे हैं। प्रेम कर सकते हैं केवल सद्‌गुरु – जिन्होंने समस्त मोह-माया पर विजय पा ली है। महापुरुष की दृष्टि में अपने पराये का भेद नहीं रहता। इस दुनिया के सभी लोग उनके अपने हैं। वे किसी सीमा में बद्ध नहीं रहते। वे समस्त भेद-बुद्धि से चिरमुक्त होते हैं। उनके अपने स्वार्थ जैसा कुछ नहीं होता। वे सभी के भीतर भगवान को देखते हैं – इसीलिए उनमें घृणा, अहंकार, भेदबुद्धि नहीं होती। उनकी दया और प्रेम असीम है। वे सबसे अहैतुक प्रेम करते हैं। सबको प्रेम करने मे ही उन्हें आनन्द हैं। इस प्रेम के बदले वे कभी कोई प्रतिदान नहीं चाहते। मानव की शान्ति और कल्याण के लिए महापुरुष आजीवन तपस्या करते हैं। उनके स्नेह और दया की तुलना नहीं हो सकती।"

भक्त – "महाराज, ऐसे महापुरुष को कितने लोग पहचान सकते हैं ? अपने भीतर मलिनता के कारण लोग सच्चे महापुरुषों को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, उनके दोष देखते और निन्दा करते फिरते है।"

महाराज – "सच्चे महापुरुष को पहचानना साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। अधिकांश लोग तो नकली के पीछे मतवाले हैं, असली महापुरुष को कौन चाहता है ? शुद्ध आधार हुए बिना सच्चे महापुरुष को पहचाना नहीं जा सकता। सामान्य लोग भोग में आसक्त और तमोगुणी हैं, उनका अन्तःकरण मलिन होता है। दर्पण पर धूल जमी रहे तो उसमें मुख नहीं देखा जा सकता। जिनके मन में पाप का मैल भरा है, वे अवतार या सिद्ध महापुरुष को कैसे पहचान सकते हैं ? ऐसे लोग किसी महापुरुष को हजार बार देखकर भी पहचान नहीं सकते। केवल बाहर का चेहरा देखने से क्या होगा ? उनके भीतर क्या है यह देखने के लिए अर्न्तदृष्टि चाहिए। शुद्ध-पवित्र हुए बिना अर्न्तदृष्टि नहीं खुलती। ठीक ठीक सिद्ध महापुरुष को अत्यन्त अपने लोग भी समझ नहीं पाते। पास-पड़ोस के लोग उन्हें सर्वदा देखकर भी उनका माहात्म्य नहीं देख पाते।"

भक्त – "जी हाँ। कैसे पहचानेंगे ? साधन-भजन हो तब तो पहचानेंगे ?"

महाराज – "हाँ। जिनके भीतर कोई भी शुद्ध भाव नहीं है, वे अवतार या सिद्ध महापुरुष को कैसे पहचानेंगे ? मनुष्य पर कृपा करने के लिए ही वे लोग सदा प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु उस कृपा को लेने की इच्छा कितनों को होती है ? साधन-भजन में जिन्होंने काफी प्रगति कर ली, वे ही ठीक-ठीक महापुरुषों का संग कर सकते हैं। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण को तो हजारों लोगो ने देखा है। लेकिन उनका आदर्श कितने लोग ग्रहण कर पाये हैं ? केवल उनके ये कुछ त्यागी शिष्यगण। संयमी और पवित्र हुए बिना उस आधार में महापुरुषों का आदर्श विकसित नहीं होता। जिनके भीतर भोग-वासना है, वे महापुरुषों को देखकर भी कुछ नहीं समझ पाते, उनके आदर्श को ग्रहण करना

तो दूर की बात है। उपदेश तो बहुत से लोग सुनते हैं, लेकिन उनका पालन कौन करता हैं ?

"जो ठीक ठीक मुमुक्षु हैं, वैराग्यवान हैं, केवल वे ही महापुरुषों का संग कर सकते है। संग करने का अर्थ है उनके आदर्श को जीवन में प्रतिफलित करना। काफी साधन-भजन करते करते जिनकी बुद्धि पूरी तरह से निर्मल हो गई है, वे ही सच्चे शिष्य हैं। ऐसे शिष्यों में ही सद्‌गुरु की शक्ति समय आने पर प्रकाशित होती है। चाहे जितने भी बड़े महापुरुष से दीक्षा लो, स्वयं साधना किये बिना कुछ नहीं होगा। यह मत सोचो कि सद्‌गुरु से दीक्षा ग्रहण करने से ही सब हो गया। विवेक, वैराग्य, ध्यान-धारणा आवश्यक है। कृपा को ग्रहण करने के लिए उसी प्रकार का योग्य आधार होना चाहिए। महापुरुषों की कृपा को हजम करना बहुत कठिन है। बहुत उच्च आधार हुए बिना कोई भी कृपा को आत्मसात नहीं कर सकता।"

भक्त – "महाराज ! पर बहुत से लोग तो कहते हैं कि गुरुकृपा के बिना कुछ नहीं होगा।"

महाराज – "इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम दीक्षा ग्रहण करके हाथ-पैर समेट कर बैठे रहोगे और गुरु तुम्हें कन्धे पर लेकर वहाँ पहुँचा देंगे। मनुष्य माया के कारण मार्गच्युत होकर जन्म-जन्म तक कोल्हू के बैल की तरह केवल इस संसार में भटकता रहता है। हजार प्रयत्न करने पर भी मुक्ति का मार्ग खोज नहीं पाता। सद्‌गुरु आकर उसे वह पथ दिखा देते हैं। लेकिन उस पथ पर तुम आगे बढ़ने की चेष्टा ही न करो, तो गुरु भला क्या करेंगे ? स्वयं प्राणपण से साधना किये बिना भगवान की दया, गुरु की कृपा, कुछ भी नहीं फलता। सूर्य तो प्रकाश दे ही रहा है, लेकिन दर्पण पर धूल जमा हो तो प्रकाश का Reflection (प्रतिबिम्ब) कैसे पड़ेगा ? सुई पर मिट्टी जमी रहने

पर चुम्बक उसे आकर्षित नहीं कर सकता। भीतर भोग-वासना की मिट्टी जमा रहने के कारण तुम लोगों में गुरुकृपा फलवती नहीं होती। यथार्थ सद्गुरु चाहते हैं कि उनके सभी शिष्य मुक्त हो जायँ। किन्तु शिष्यों में जिसका जैसा आधार है, उसकी उसी के अनुरूप उन्नति होती है। जो जैसी मेहनत करेगा, वह वैसा ही फल प्राप्त करेगा। स्वयं परिश्रम न करने पर, गुरु क्या करेंगे ? हुल्लड़बाज तथा चंचल लोग गुरु के पास कई वर्ष रह कर भी कोई उन्नति नहीं कर पाते। पूरे मन-प्राण से लगे रहने पर ही उन्नति होती है। भगवान में पूरा मन लगाने पर ही तो उस पथ पर उन्नति होगी, अग्रगति होगी।

भक्त – "साधन-भजन में सर्वदा लगे रहे बिना यदि कोई उन्नति नहीं होती, तो फिर हमारे लिए क्या उपाय है ? थोड़ा बहुत जप करने से आखिर क्या होगा ?"

महाराज – "बार बार तो कह रहा हूँ, इस थोड़े-बहुत अभ्यास से भी बहुत लाभ होता है। व्यर्थ के नियम-आचार आदि अभी छोड़ो। मन भगवान में किस तरह लगे, बस इसी ओर ध्यान रखना। इच्छा से हो या अनिच्छा से, भगवन्नाम का जप करते रहने से एक दिन वही मन भगवान की ओर चला जाएगा। हताश होने की क्या बात है ? जैसे भी हो साधना में लगे रहना चाहिए। कौन जाने कब, किसके हृदय की ग्रन्थि खुल जाय ? भगवान के नाम की शक्ति से सब पाप-ताप धुल जाते हैं। भय क्या ? उनके शरणागत होओ। दिन-रात उन्हें पुकारो। कातर होकर पुकारना व्यर्थ नहीं जाता। भगवान का नाम लेकर पड़े रहो। नाम और नामी अभेद हैं। इस नाम में ही वे हैं।। इस नाम के नशे में मतवाले हो जाओ। वे दयामय हैं, निश्चय ही दया करेंगे।"

❀

श्री चैतन्य महाप्रभु (२४)

स्वामी सारदेशानन्द

व्रजमण्डल परिभ्रमण को निकलने के पूर्व चैतन्यदेव ने जब कुछ दिन काशी में निवास किया था, उन दिनों काशीवासी एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण उनकी ओर विशेष आकृष्ट हुए थे और उनके पास आते-जाते थे। साधुभक्त ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण काशी के अन्य साधु-महात्माओं के पास भी आवागमन करते थे। श्रीमत् प्रकाशानन्द सरस्वती नामक एक मण्डलेश्वर के साथ उनका विशेष परिचय था। स्वामी प्रकाशानन्दजी एक महान पण्डित थे और अद्वैतवादी ज्ञानमार्ग के प्रचार में लगे हुए थे। वे भगवद्भक्ति तथा तत्सम्बन्धी उपासनामार्ग पर कटाक्ष करते हुए शास्त्रीय युक्तियों की सहायता से ब्रह्म में रूपकल्पना तथा सगुण-साकार उपासना को भ्रममूलक प्रमाणित किया करते थे।

उपरोक्त महाराष्ट्रीय ब्राह्मण प्रकाशानन्दजी की वेदान्त व्याख्या को बड़े मनोयोग से सुनते और उनके ऊपर बड़ी श्रद्धा रखते। चैतन्यदेव के मुख से भक्तिमार्ग की बातें सुनने के बाद एक दिन प्रकाशानन्दजी के साथ वार्तालाप के दौरान ब्राह्मण ने कहा, "पुरी से एक तेजस्वी तरुण बंगाली संन्यासी आये हुए हैं, जो भक्ति उपासना का प्रचार करते हैं। भगवन्नाम का कीर्तन करते करते प्रेम से उनके शरीर में अद्‌भुत सात्त्विक विकारों का उदय होता है, यहाँ तक कि उनके बाह्यज्ञान का लोप हो जाता है। बहुत से लोग उनके अनुगत हो रहे हैं।" ब्राह्मण के मुख से चैतन्यदेव के बारे में ये बातें सुनकर प्राकाशानन्दजी ने कहा, "हाँ मैंने भी सुना है कि गौड़देश का चैतन्य नामक वह भावुक संन्यासी केशव भारती का शिष्य और लोकप्रतारक है। अपने भावुक संगियों को लेकर वह देश देश और गाँव गाँव नाचता हुआ भ्रमण कर रहा है। उसके पास कुछ ऐसी मोहिनी विद्या है कि जो भी उसे देखता है, मुग्ध हो जाता है और

उसे ईश्वर कहने लगता है। सार्वभौम भट्टाचार्य महान पण्डित थे, पर सुनता हूँ कि वे भी इस चैतन्य के सम्पर्क में आकर पागल हो गये। वह महा इन्द्रजाली केवल नाममात्र को संन्यासी है और इस काशीपुरी में तो उसके नाच-गान का कोई खरीदार नहीं मिलेगा। तुम यहाँ वेदान्त श्रवण करते रहना और भूलकर भी उसके पास न फटकना, क्योंकि उच्छृंखल लोगों का संग करने से इहलोक और परलोक दोनों ही बरबाद हो जाते हैं।"

प्रकाशानन्दजी ने ब्राह्मण को बंगाली जादूगर संन्यासी से सावधान करते हुए उनसे दूर रहने को कहा था, परन्तु उनका हृदय इसे स्वीकार नहीं कर सका। चैतन्यदेव के प्रेम से खिंचकर वे निरन्तर उनके पास आवागमन करते रहे और एक दिन वार्तालाप के दौरान उन्होंने प्रकाशानन्दजी से जो कुछ सुना था, वह भी सुना दिया। ब्राह्मण के मुख से प्रकाशानन्दजी की उक्तियाँ सुनकर महाप्रभु हँसते हुए बोले, "हाँ काशीपुरी में मैं अपनी भावुकता बेचने आया था, परन्तु खरीदने वाले ग्राहक नहीं मिले तो उन्हें वापस घर ले जाना पड़ेगा। इतना बोझ किसी प्रकार लेकर तो आ गया, पर अब वापस कैसे ले जाऊँ, थोड़ी-बहुत कीमत मिल जाय तो यहीं बेच डालूँगा।" उनकी ये सरस बातें सुनकर भक्तों का चित्त हर्षित हो उठा था। इस घटना के बाद ही चैतन्यदेव काशी से प्रयाग को चले गये थे। उनकी कृपा से भगवद्भजन के माधुर्य का रसास्वदन पाकर वे ब्राह्मण महाप्रभु की अनुपस्थिति में भी उनके निर्देशानुसार जीवन यापन कर रहे थे और आज पुनः काशी पधारने पर, उनका दर्शन पाकर ब्राह्मण ने स्वयं को कृतार्थ बोध किया।

साधुभक्त इन ब्राह्मण ने एक दिन साधुवृन्द की सेवा के हेतु अपने घर में एक भण्डारा का आयोजन किया। एकाकी अपने भाव में डूबे रहने के अभिलाषी चैतन्यदेव काशी में किसी का भी

निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते थे और न ही किसी भण्डारे में जाते थे। यहाँ तक कि वे अपने दसनामी सम्प्रदाय के संन्यासीगण के साथ भी मेलजोल नहीं करते थे। परन्तु अपने परम अनुगत भक्त इन महाराष्ट्रीय ब्राह्मण की प्रार्थना को वे ठुकरा नहीं सके और निर्दिष्ट तिथि को उनके घर में आयोजित भण्डारे में जा पहुँचे। ब्राह्मण के गृह में निमन्त्रित संन्यासी-समाज की सभा चल रही थी। वहाँ उपस्थित मण्डलेश्वर[१], महन्त, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, ज्ञानी, तपस्वी, त्यागी, पण्डित संन्यासीवृन्द को उपयुक्त आसन पर यथायोग्य स्थान में बैठाया गया था। सबके बीच में आसीन श्रीमत् प्रकाशानन्दजी महाराज सभापति के समान शोभायमान हो रहे थे। उसी समय श्रीमत् कृष्णचैतन्य भारतीजी भी वहाँ आ पहुँचे और प्रचलित प्रथा के अनुसार उन्होंने सभा में उपस्थित समस्त सन्यासीगण को 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर नमस्कार किया। तदुपरान्त पदप्रक्षालन के स्थान पर जाकर उन्होंने अपने पाँव धोये और वहीं सभा के एक किनारे दीनहीन भाव से चुचाप बैठ गये। उनकी तेजोमय देहकान्ति, प्रशान्त स्थिर दृष्टि और भावोद्दीप्त मुखमण्डल ने सबका ध्यान आकृष्ट किया। प्रकाशानन्दजी स्वयं ही अपने आसन से उठकर उनके पास गये और सम्मान प्रदर्शित करते हुए बोले, "श्रीपाद,

---

१. जिन विद्या-बुद्धि-चरित्र सम्पन्न गणमान्य संन्यासी के पास बहुत से साधु-संन्यासी निवास करते हैं, उन्हें मण्डलेश्वर कहते हैं। जूना, निर्वाणी, निरंजनी, अटल, आह्वान, आनन्द आदि नामों से सुपरिचित विभिन्न अखाड़ों में विभक्त नागा संन्यासीगण अपने अपने अखाड़े तथा उससे सम्बन्धित सम्पत्ति के व्यवस्थापक और रक्षक है। इन मुख्य अखाड़ों के अधीन विभिन्न स्थानों पर जो मठ और अखाड़े चल रहे हैं, वे सभी उनके द्वारा निर्वाचित पंचायत से परिचालित होते हैं। कुम्भ मेला के अवसर पर सभी एकत्र होकर अपने व्यक्तिगत तथा साम्प्रदायिक विषयों पर विचार-विमर्ष और चर्चा किया करते हैं। सभी मूल अखाड़े एक एक उपयुक्त संन्यासी को मण्डलेश्वर चुनते हैं, जिनके नेतृत्व में पंचायत और कुम्भमेला की व्यवस्था होती है।

आप यहाँ पर क्यों बैठे हैं ? सभा के बीच में आइए न !" चैतन्यदेव ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "महाराज, मैं संन्यासी-सम्प्रदाय के बीच अति हीन हूँ, आप लोगों के साथ बैठने के योग्य नहीं हूँ।" प्रकाशानन्दजी उनका हाथ पकड़कर ले गये और अपने समीप बैठाकर उनसे पूछने लगे, "क्या तुम्हीं पूज्यपाद केशवभारती के शिष्य कृष्णचैतन्य भारती हो ?" चैतन्यदेव के विनयपूर्वक हामी भर लेने पर प्रकाशानन्दजी विस्मयपूर्वक शिकायत करते हुए बोले, "तुम इसी नगर में रहनेवाले हमारे सम्प्रदाय के संन्यासी हो, तो भी किस कारण हम लोगों से नहीं मिलते। संन्यासी होकर भी तुम नाचते-गाते हो और भावुक लोगों के साथ संकीर्तन करते रहते हो। वेदान्त का पठन-पाठन ही संन्यासी का धर्म है, उसे छोड़कर तुम क्यों नाचने-गाने का कर्म करते हो। देखने में तो तुम साक्षात नारायण जैसे लगते हो, परन्तु किस कारण तुम ऐसा हीन आचरण करते हो ?"

चैतन्यदेव ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "स्वामीजी, मैं वेदान्त-विचार में अनधिकारी हूँ, इसीलिए गुरुदेव के उपदेशानुसार कृष्णनाम का जप करता रहता हूँ। जप करते करते मेरा मन विक्षिप्त हो जाता है, मैं धैर्य खो बैठता हूँ और स्थिर नहीं रह पाता। तब मैं मदमत्त के समान हँसने, रोने, नाचने, गाने लगता हूँ। गुरुदेव को अपनी इस अवस्था के बारे में निवेदन करने पर उन्होंने अतीव प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहा था, "अच्छा हुआ कि तुम्हें परम पुरुषार्थ की उपलब्धि हो गयी और तुम्हारे प्रेम से मैं भी कृतार्थ हो गया। अब तुम नाचो, गाओ, भक्तों के साथ संकीर्तन करो और कृष्णनाम का उपदेश देकर सबका उद्धार करो।" उनके इस आदेश में मेरा दृढ़ विश्वास है और इसीलिए मैं निरन्तर कृष्णनाम-संकीर्तन करता रहता हूँ।"

चैतन्यदेव की सुमधुर वाणी सुनकर सबके अन्तर में प्रीति का संचार हुआ, परन्तु प्रकाशानन्दजी इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने तिरस्कारपूर्वक फिर पूछा, "ठीक है, तुम कृष्ण भक्ति करते हो, इस पर सभी सन्तुष्ट हैं, परन्तु वेदान्त में ऐसा क्या दोष है, जो तुम उसका श्रवण नहीं करते ?"

प्रकाशानन्दजी द्वारा बारम्बार संन्यासीगण के साथ मेलजोल न रखने तथा वेदान्त-चर्चा न करने का आरोप लगाए जाने पर चैतन्यदेव ने अपने अन्तर का भाव व्यक्त करते हुए कहा, "वेदान्तसूत्र ईश्वर के वाक्य हैं। वेदों का वास्तविक मर्म समझाने और मनुष्यों को तत्वज्ञान देने के लिए श्री भगवान ने ही व्यास देव के रूप में उसे व्यक्त किया है। मानव द्वारा रचित ग्रन्थों के समान उसमें कोई भ्रम-प्रमाद आदि हो ही नहीं सकता। उपनिषद और व्याससूत्र के द्वारा जो तत्व निर्दिष्ट होता है, वही चरम साध्य है। अतः व्याससूत्र के स्मरण-मनन अर्थात वेदान्त की चर्चा में ही परम उपलब्धि निहित है, इसमें बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं। कूटबुद्धि तार्किक, वेदविरोधी बौद्ध तथा अन्य विरुद्ध मतावलम्बियों के तर्कजाल का खण्डन तथा विचार व युक्ति के द्वारा उन्हें परास्त कर आस्तिकता की स्थापना तथा लोगों को वेदानुगामी करने के लिए ईश्वर की इच्छा से ही भगवत्पाद शंकराचार्य ने वेदान्त-सूत्रों पर भाष्य की रचना की है। यद्यपि प्रतिवादियों के सिद्धान्त का खण्डन करने के हेतु उसमें निर्गुण निराकार तत्व तथा उसकी उपलब्धि के लिए ज्ञानमार्ग के श्रवण-मनन-निदिध्यासन के साधन की बात ही सविस्तार वर्णित हुई है, तथापि उपनिषद व व्याससूत्रों में ब्रह्म के सगुण-साकार भाव तथा उसकी उपासना के बारे में जो समस्त वाक्य हैं, उनका खण्डन तो दूर, आचार्य उनका यथार्थ मर्म समझाकर अविद्या-तिमिरान्ध जीवों के लिए भगवदुपासना अत्यन्त आवश्यक बता

गये हैं। परन्तु बहुत से संन्यासीगण उनका तात्पर्य न समझ पाकर उनके वेदान्तभाष्य को उपासना का विरोधी समझते हैं और इस कारण उनके भाष्य के आधार पर श्रुति व व्याससूत्रों की विकृत व्याख्या का प्रचार करके लोगों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करते हैं। इसका फल यह होता है कि देहात्मबुद्धि युक्त साधारण जीव अपने को ब्रह्म मानते हुए, अविचिन्त्यशक्ति श्री भगवान की महिमा को भूलकर, उनकी उपासना को त्यागकर विपथगामी हो जाता है और अपने नश्वर देह की दासता करते हुए त्रिताप की ज्वाला में दग्ध होता रहता है। अनधिकारी व्यक्ति के लिए इस तरह की वेदान्त चर्चा न करना ही मुझे उचित प्रतीत होता है।"

चैतन्यदेव ने जब इस प्रकार प्रचलित वेदान्त-व्याख्या का दोष दिखाया तो प्रकाशानन्दजी चुप नहीं बैठ सके, उत्तेजित होकर उन्होंने इसका प्रतिवाद किया। दोनों ही महापण्डित थे, अतः घोर तर्कयुद्ध आरम्भ हुआ। प्रकाशानन्दजी ने शास्त्र के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि एकमात्र निर्गुण ब्रह्म ही श्रुतिसम्मत है और उसकी उपलब्धि के लिए ज्ञानमार्ग ही उपयुक्त है। चैतन्यदेव यह सिद्ध करने लगे कि सगुण ब्रह्मवाद और परमेश्वर की उपासना भी श्रुति-स्मृतिसम्मत है। दोनों ही शास्त्रज्ञ थे, अपना अपना पक्ष समर्थन करने में पारंगत थे, परन्तु चैतन्यदेव में शास्त्रज्ञान के साथ ही साथ 'वस्तु' के स्वरूप का 'स्वानुभव' भी था। उन्होंने जिस तत्व की उपलब्धि की थी, उसी का प्रचार करते थे। अपरोक्षानुभूति-सम्पन्न होने के कारण उनकी युक्तियाँ और सिद्धान्त सबको हृदयग्राही लगे। अन्त में प्रकाशानन्दजी ने भगवद्भक्ति व उपासना की उपयोगिता स्वीकार कर ली और चर्चा को विराम दिया।

तब संन्यासीगण ने महाप्रभु को अपने बीच में बैठाया और उनके साथ भिक्षा ग्रहण की। तदुपरान्त सभी चैतन्यदेव के सम्मुख

प्रणत हुए और आपस में अति मधुर चर्चा करने लगे। प्रकाशानन्दजी के एक उन्हीं के समतुल्य शिष्य थे, जो सभा में उठकर महाप्रभु के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए बोले, "श्रीकृष्ण चैतन्य साक्षात नारायण हैं, इसीलिए इन्होंने व्याससूत्रो की व्याख्या इतने मोहक ढंग से की।" महाप्रभु को सम्मानित होते देख महाराष्ट्रीय भक्त-गृहस्वामी का चित्त पुलकित हो उठा। उसी दिन से इन भावुक बंगाली संन्यासी की महिमा चारों ओर और भी फैलने लगी। वाराणसी के सभी लोग प्रभु की प्रशंसा करने लगे। सभी संन्यासी उनका दर्शन करने को आने लगे। श्रीकृष्ण चैतन्य के वाराणसी आगमन से उस नगरी के साथ ही साथ समस्त लोक धन्य हो गये। लाखों लोग उनका दर्शन करने को आने लगे। भीड़ इतनी बढ़ जाती थी कि लोग द्वार से प्रवेश तक नहीं कर पाते थे। प्रभु जब विश्वेश्वर का दर्शन करने को जाते तो वहाँ भी लाखों एकत्र हो जाते। जब वे गंगातट पर स्नान करने जाते तो वहाँ भी सब लोग जाकर भीड़ कर देते।

चैतन्यदेव ने महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के साथ सनातन का परिचय करा दिया था। सनातन का त्याग-वैराग्य तथा उनकी ज्ञान-भक्ति देखकर भक्त ब्राह्मण के मन में अत्यन्त प्रीति का संचार हुआ। एक दिन सनातन को निमन्त्रण द्वारा अपने घर ले जाकर उन्होंने परम आदर के साथ उन्हें भिक्षा करायी और प्रतिदिन उन्हीं के घर आकर भिक्षा ग्रहण करने का अनुरोध किया। परन्तु सनातन कैसे भी उनके प्रस्ताव पर सहमत नहीं हुए।

अन्नपूर्णा के राज्य में माधुकरी के अन्न से उदरपोषण करते हुए सनातन चैतन्यदेव के साथ परम आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगे। शीत से बचने के लिए अपने बहनोई श्रीकान्त द्वारा प्रदत्त भोटिया कम्बल से वे अपना शरीर ढँके रहते थे। सनातन ने देखा कि बीच बीच में चैतन्यदेव की दृष्टि उस कम्बल पर जा अटकती

है। ऐसी दृष्टि का भला क्या तात्पर्य होगा ? सनातन के मन में बड़ी चिन्ता हुई, परन्तु उनके समान राजमन्त्री के लिए इसके रहस्य को समझते देर न लगी। अगले दिन उन्होंने एक गरीब व्यक्ति को गंगा के घाट पर अपनी गुदड़ी सुखाते देखा। सनातन ने उसके पास जाकर अपने कम्बल के बदले में उसकी गुदड़ी लेने की इच्छा व्यक्त की। वह बेचारा सनातन के अन्तर का भाव समझ नहीं सका और यह सोचकर कि मेरी हँसी उड़ाई जा रही है, दुःख व्यक्त करते हुए बोला, "महाशय, पहरावे से तो आप एक साधु पुरुष प्रतीत होते हैं। एक गरीब का उपहास करना आपको शोभा नहीं देता।" सनातन ने मधुर वाणी में उन्हें आश्वस्त करते हुए बताया कि वे उपहास नहीं कर रहे हैं, बल्कि सचमुच ही अपने भोटिया कम्बल के बदले उसकी गुदड़ी लेने को इच्छुक हैं और यदि वह राजी हो जाय तो विशेष उपकार भी मानेंगे। इस साधु पुरुष के अद्‌भुत प्रस्ताव पर वह व्यक्ति बड़ा ही विस्मित हुआ और उनके कम्बल के बदले अपनी गुदड़ी उन्हें सौंप दी। ऊनी कम्बल पाकर उस निर्धन व्यक्ति को बड़ी खुशी हुई और सनातन ने भी परमानन्द सहित वह गुदड़ी ओढ़े जाकर चैतन्यदेव के पादपद्मों में साष्टांग प्रणाम किया। सनातन के शरीर पर गुदड़ी देखकर महाप्रभु का चित्त अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वे कहने लगे, "मैंने इस विषय पर सोचा है, कृष्ण ने अब तुम्हारा विषयभोग पूर्णतः दूर कर दिया है। जैसे उत्तम वैद्य चिकित्सा करते समय रोग को जड़मूल से मिटा देता है वैसे ही तुम्हारे विषयभोग का वह आखिरी चिह्न वे भला कैसे रहने देते ! तीन मुद्रा के उस कम्बल को ओढ़कर घर-घर जाकर भिक्षा माँगने से तुम्हारी धर्महानि होती थी और देखनेवाले भी हँसा करते थे।"

(क्रमशः)

मानव-जीवन में धर्म का प्रयोजन (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोवधीत ॥ *

धर्म के सम्बन्ध में जितने विवाद, जितनी शंकाएँ आज उठ रही हैं, उतनी कदाचित अतीत के किसी भी काल खण्ड में नहीं थी। धर्म की आवश्यकता तथा प्रासंगिकता पर जितने प्रश्न आज उठाए जा रहे हैं, उतना इतिहास के किसी काल में नहीं था। विज्ञान तथा तकनीकी की अनवरुद्ध उन्नति के साथ ही आज यह प्रश्न सभी शिक्षित समाज के सम्मुख मुँह बाए खड़ा है कि क्या मनुष्य जीवन में धर्म का कोई स्थान है ? जीवन की सफलता के लिये धर्म का कोई प्रयोजन है ?

इस प्रश्न के दो अतिवादी उत्तर आज हमारे सम्मुख प्रमुख रूप से रखे जाते हैं। भौतिकवादी नास्तिकों का मत है कि धर्म न केवल जीवन के लिए अनावश्यक है, अपितु निश्चित रूप से वह व्यक्ति और समाज के लिये हानिकारक भी है। उनकी दृष्टि में धर्म अफीम की तरह विषवत विनाशक है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है।

दूसरे अतिवादी वे लोग हैं, जो तथाकथित धर्म के नाम पर विज्ञान तथा भौतिक अस्तित्व की यथार्थता को दोषपूर्ण और निरर्थक मानकर उसकी सर्वथा उपेक्षा और त्याग की बात करते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म एक अलौकिक तत्व है, अतः लौकिक व्यवहारों को स्वीकार कर लेना उनके लिये अधर्म है। यह धर्म की एकपक्षीय, एकांगी धारणा है।

---

* नष्ट किया गया धर्म ही हमारा नाश करता है तथा सुरक्षित धर्म ही हमारी रक्षा करता है। अतः धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि सुरक्षित धर्म ही नहीं मारता अर्थात हमें बचाता हैं। (मनुस्मृति १५/८)

इन दोनों अतिवादी धारणाओं के द्वारा धर्म की समुचित मीमांसा तथा जीवन में उसके प्रयोजन के प्रश्न का सम्यक हल प्राप्त नहीं किया जा सकता।

धर्म क्या है ?

धर्म की जीवन में क्या आवश्यकता है – इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि यह धर्म है क्या ? धर्म के सम्बन्ध में जो इतने वाद-विवाद हैं, वितण्डा है, उसका कारण भी यही है कि धर्म के सम्बन्ध में लोगों ने गम्भीरतापूर्वक समुचित विचार-विमर्श न कर धर्म सम्बन्धी कुछ पारम्परिक रूढ़िगत आचरणों, अनुष्ठानों एवं हठवादी संकुचित धारणाओं को ही धर्म मान लिया है, तथा उसी के आधार पर धर्म सम्बन्धी अपनी धारणाएँ बनाकर धर्म की निन्दा और उपेक्षा करते हैं।

प्राचीन भारतीय मनीषियों और ऋषियों ने मनुष्य के समग्र जीवन पर विचार किया। जन्म से मृत्युपर्यन्त जीवन के क्रिया-कलापों, भावनाओं, प्रवृत्तियों, विचारों और चिन्तनों का निरीक्षण-परीक्षण किया। उस पर प्रयोग किए तथा समग्र जीवन को धारणकर उसे व्यवस्थित एवं सुसंगठित करने वाले एक शाश्वत तत्व को खोज निकाला। इसी तत्व को उन्होंने धर्म का नाम दिया।

ऋषियों ने अनुभव के द्वारा यह जान लिया कि इस विविधतापूर्ण वैचित्र्यमय जगत के बीच एक ऐसा तत्व है जो सभी को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है। विविधताओं के मध्य एकता रखनेवाला यह तत्व ही वस्तुतः सभी को धारण करनेवाला तत्व है। यह तत्व स्वयं अखण्ड और अद्वय है। यही तत्व धर्म का चरम लक्ष्य और स्वरूप है। अखण्ड अद्वैत होते हुए भी यह

अनन्त आयामों में अभिव्यक्त होता है । अभिव्यक्ति की यह अनन्त विधा धर्म है इसलिये धर्म भी बहुआयामी है ।

धर्म के इस महत तत्व को समझने में धर्म शब्द का धातुगत अर्थ हमारी बहुत सहायता करता है । धर्म शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न होता है । 'धृ' का अर्थ है धारण करना । जो तत्त्व धारण कर रखे, जिसके कारण वस्तु का अस्तित्व बना रहे, वह तत्व धर्म है – 'धारणात् धर्मः' - धारण करने के कारण धर्म कहा जाता है। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने लिखा है – 'धारयति इति धर्मः – यो लोकान् धारयति, येन मानव समाजो धृतः स धर्मः'* – जो धारणकर्ता है वह धर्म है । जो लोगों को धारण करता है जिसने मानव समाज को धारण कर रखा है, वह धर्म है ।

इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु का मौलिक स्वरूप ही उसका धर्म है । जैसे दाहिका शक्ति या उष्णता ही अग्नि का धर्म है । यदि उष्णता न रहे तो अग्नि का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। उष्णता पर ही अग्नि का अस्तित्व निर्भर करता है ।

मनुष्य का मूल स्वरूप

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जीवन में धर्म की आवश्यकता को समझने के लिये मनुष्य के मूल स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है । यह जानना आवश्यक है कि वह कौन सा तत्व है जिसके कारण मनुष्य का अस्तित्व बना हुआ है तथा जिसके अभाव में उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है ।

विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि हमारे व्यक्तित्व के पीछे एक ऐसा तत्व है जिसने हमारे शरीर, मन, बुद्धि आदि को धारण कर रखा है । यह तत्त्व शरीर, मन आदि का धारक होने के पश्चात भी उनसे भिन्न है । गीता में इसे देही कहा गया है, जो नित्य और अवध्य है –

---

* कल्याण, धर्मांक, पृ. ४५

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि। २/३०

– "यह आत्मा सबके शरीर में सदा अवध्य है इसलिये सभी प्राणियों के लिये तू शोक करने योग्य नहीं हैं।"

यह शाश्वत तत्व अशरीरी, किन्तु चैतन्य है। चैतन्य होने के कारण यह ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है। अशरीरी होने के कारण यह अनादि और अनन्त है। उपनिषदों में, गीता में तथा हिन्दुओं के अन्य सभी धर्मग्रन्थों में इसे आत्मा कहा गया है। यही मनुष्य का मूल स्वरूप है।

शरीर और मन इसी आत्मा पर आरोपित उपाधि मात्र हैं। जिस प्रकार मनुष्य अपनी रुचि, सामाजिक परम्परा आदि के कारण विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण ग्रहण करता है, उसी प्रकार वह अपने कर्मों के कारण विभिन्न शरीर भी धारण करता है और त्यागता रहता है। जब तक मनुष्य अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव नहीं कर लेता, तब तक यह क्रम चलता रहता है।

हमारे मूल सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का आभास, उसका संकेत, हमे दैनन्दिन जीवन में भी मिलता है। हम सभी का अनुभव यह बताता है कि हम अनन्त आनन्द, असीम ज्ञान तथा शाश्वत जीवन चाहते हैं। हम सभी के भीतर यह आकांक्षा विद्यमान है। इस आकांक्षा की पूर्ति बिना कभी भी मनुष्य स्थायी सुख-शांति नहीं प्राप्त कर सकता। यह अकांक्षा विषय भोगों में फँसे रहने के कारण यदा कदा दुर्बल भले ही प्रतीत हो, किन्तु इसका दमन नहीं किया जा सकता, यह अदम्य है। इसकी पूर्ति के बिना तृप्ति नहीं हो सकती है। इस आकांक्षा की परिपूर्ति ही आत्मानुभूति या ईश्वरप्राप्ति है। यही मनुष्य के मौलिक स्वरूप की उपलब्धि है।

इस अनुभूति का नाम ही धर्म है। आत्मानुभूति के विभिन्न मार्ग हैं। अपनी शक्ति, योग्यता, रुचि आदि के अनुसार साधारणतः मनुष्य आत्मानुभूति के किसी एक मार्ग का चयन करता है।

सभी मार्गों का सामान्य तत्व

आत्मानुभूति के विभिन्न मार्ग हैं। व्यक्ति अपनी योग्यता आदि के अनुसार किसी एक मार्ग पर चलता है। सभी मार्गों की अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। उन्हीं विशेषताओं के कारण उन मार्ग-विशेषों का विशेष परिचय तथा नामकरण होता है। हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध आदि धर्म अपनी कुछ विशेषताओं के कारण ही विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं।

किन्तु व्यक्ति चाहे जिस मार्ग से जाय। चाहे जिस किसी विशेष धर्म का पालन क्यों न करे, आत्मानुभूति के मार्ग की कुछ ऐसी अनिवार्य शर्तें हैं, जिनका पालन करना, जिन पर आचरण करना नितांत आवश्यक है। उन शर्तों के बिना मनुष्य किसी भी उपाय से, किसी भी मार्ग पर चलकर आत्मानुभूति नहीं कर सकता। कठोपनिषद में यमराज नचिकेता को वे शर्तें बताते हैं।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ॥
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ १/२/२४

– जो दुराचरण से विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं, जिसका मन-इन्द्रियाँ आदि संयत नहीं है, जिसका चित्त शान्त नहीं है, वह सूक्ष्म बुद्धि द्वारा भी इस आत्मतत्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

यहीं से जीवन में धर्म की आवश्यकता का प्रारम्भ हो जाता है। उन्नत चरित्र ही तो मनुष्य की मनुष्यता है। चरित्रहीन व्यक्ति मानव देह में भी पशुतुल्य ही है। चरित्र – उच्च एवं दृढ़ चरित्र ही धर्म हैं। धर्म के आचरण से ही तो चरित्र का गठन होता है।

और जीवन की सफलता सुगठित चरित्र पर ही तो निर्भर करती है। अतः जीवन की सफलता के लिये धर्म नितान्त आवश्यक है।

सुखः जीवन का प्रेरणा-स्रोत

यदि हम अपने जीवन पर दृष्टि डालें, तो यह पायेंगे कि हमारे सभी कर्मों के पीछे कहीं न कहीं, कुछ न कुछ सुख पाने की इच्छा रहती है। बिना सुखप्राप्ति की इच्छा के, फिर वह सुख शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक कुछ भी क्यों न हो, व्यक्ति कोई कर्म नहीं करता। छान्दोग्य उपनिषद् में ऋषि नारद को बताते हैं – " **यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति । नासुखं लब्ध्वा करोति । सुखमेव लब्ध्वा करोति ।**" (७/२२/१) – (व्यक्ति) जब सुख पाता है तभी कर्म करता है। दुख पाकर कभी कर्म नहीं करता। हम सभी का जीवन अनुभव भी यही बताता है कि हम सुखप्राप्ति के लिये ही कर्म करते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि सुख किसमें हैं ? संसार के इन्द्रियजन्य सुखों के विषय में तो हम सभी का यह अनुभव है कि वे क्षणस्थायी – थोड़ी देर के लिये ही मिलने वाला सुख देते हैं। तथा उस सुख की तुलना में प्रायः उसका परिणाम अधिक दुःख ही होता है। उतना ही नहीं, उस थोड़े से सुख की प्राप्ति के लिये भी कितना अधिक परिश्रम करना पड़ता है। कष्ट उठाना पड़ता है। हमारे ऋषियों ने, हमारे कल्याण के लिये यह भी बताया है कि शाश्वत सुख किसमें मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद में ही बताया गया है कि सच्चा सुख क्या है, वह कहाँ मिलता है। **यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखं ।** (७/२३) – जो महान, असीम है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं हैं। यह 'भूमा' या महान क्या है यह भी वहाँ बताया गया है। ऋषि कहते हैं – **यत्र न अन्यत् पश्यति न अन्यत् श्रृणोति न अन्यत् विजानाति स भूमा अथ यत्र अन्यत् पश्यति अन्य श्रृणोति अन्यत् विजानाति तत्**

अल्पम् । यः वै भूमा तत् अमृतम यद् अल्पं तत मर्त्यम् ॥ (७/२४)
– जहाँ दूसरा नहीं देखता, दूसरा नहीं सुनता, दूसरा नहीं जानता, वही भूमा है । तथा जहाँ दूसरा देखता है, दूसरा सुनता है, दूसरा जानता है, वही अल्प है । जो भूमा है वही अमृत है । जो अल्प है वही मृत्यु है ।

स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा, "विस्तार ही जीवन है और संकोच ही मृत्यु ।" अतः जीवन में परम सुख और शान्ति पाने के लिये भूमा अवस्था का अनुभव करना, उसमें प्रतिष्ठित होना आवश्यक है, अनिवार्य है । भूमा की अनुभूति के बिना परम सुख और शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती । इसके अभाव में जीवन दुखी एवं व्यर्थ हो जाता है ।

भूमा का अनुभव कर उसमें प्रतिष्ठित होने के उपाय का नाम ही धर्म है । जिस व्यक्ति के जीवन में भूमा उपलब्धि की चेष्टा का अभाव है, उसके जीवन में धर्म का भी अभाव है । तथा धर्महीन जीवन पशुतुल्य जीवन ही है । हितोपदेश की यह उक्ति अत्यन्त सार्थक है –

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः ॥ २५

– भोजन, नींद, भय तथा मैथुन यह सब क्रियायें मनुष्य और पशु में समान ही हैं । किन्तु मनुष्य में धर्म ही एक विशेष तत्व है जो उसे पशु से भिन्न करता है ।

मनुष्य के भीतर भी पशु वृत्तियाँ रहती हैं । किन्तु धर्म के द्वारा मनुष्य उन पर नियंत्रण कर उनका शोधन करता है तथा अपनी मानवीय या दैवी वृत्तियों को जागृत कर मनुष्य जीवन को पूर्ण और सार्थक बनाता है ।

धर्म अत्यन्त व्यापक एवं बहु-आयामी तत्व है। उसका एक अर्थ नैतिकता भी है। इस दृष्टि से धर्म हमारे नैतिक जीवन का आधार है। धर्म हमें नैतिक जीवन यापन करने की प्रेरणा देता है। महर्षि मनु ने अपने स्मृति ग्रन्थ में धर्म की एक व्याख्या दी है। यह व्याख्या संक्षेप में नैतिक जीवन के तत्वों को स्पष्ट करता है। वे लिखते हैं –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ६/९२

– धृति, क्षमा, दम अस्तेय (चोरी न करना) शौच (पवित्रता), इन्द्रिय संयम, बुद्धि (ज्ञान), विद्या, सत्य तथा अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण हैं।

मानवीय चेतना के विकास का प्रथम लक्षण है उसके हृदय में नैतिक चेतना की जागृति। मनुष्य के भीतर अशुभ वृत्तियाँ भी हैं। जब ये काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं तथा उन पर मनुष्य का नियंत्रण नहीं रह पाता, तब मनुष्य अपनी मनुष्यता से च्युत हो जाता है, गिर जाता है। किंतु जब उसकी चेतना में इन वृत्तियों के दमन करने की इच्छा होती है, उन्हें अपने वश में करने की इच्छा होती है, साथ ही वह दृढ़ संकल्प होकर मन और इन्द्रियों को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है, तभी उसके हृदय में नैतिक चेतना जागृत होती है और मानव का विकास प्रारंभ होता है।

इस समय मनुष्य के अंतःकरण में, उसकी बुद्धि में शुभ-अशुभ, भले-बुरे का ज्ञान जागता है। उसकी बुद्धि में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। 'श्रेय' और 'प्रेय' के वरण का प्रश्न उठता है। उस समय 'प्रेय' को स्वेच्छा से त्यागकर जो व्यक्ति आपात अप्रिय होने पर भी 'श्रेय' का ही वरण करता है, वही नीतिवान हो पाता है। उसी के जीवन में नैतिकता फलित होती है। ऐसा नैतिक

व्यक्ति ही धर्म का आचरण कर पाता है। धर्म के आचरण से उसकी चेतना का विकास होने लगता है। विकसित होने पर ही चेतना उन्नत होती है। उन्नत चेतना ही आध्यात्मिक अनुभूति का अधिष्ठान है। उन्नतचेता व्यक्ति ही आध्यात्मिक अनुभूति का अधिकारी होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिकता के बिना जीवन में धर्म का आचरण सम्भव नहीं है। कठोपनिषद में यमराज नचिकेता से कहते हैं –

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥१/२/२

– श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं। बुद्धिमान मनुष्य उन दोनों पर भलीभाँति विचार कर उनको अलग-अलग कर लेता है। धीर मनुष्य परम कल्याण के साधन को भोगों के साधन की अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर चुन लेता है किन्तु मन्दबुद्धि वाला मनुष्य सांसारिक लाभ-हानि की आशा से, भोगों के आपात प्रिय लगने वाले साधनों को अपना लेता है।

आपात प्रिय लगनेवाले भोगों के साधनों का वरण करनेवाला व्यक्ति शीघ्र ही विषय भोगों में अधिकाधिक डूबने लगता है। इससे उसकी चेतना मूर्छित हो जाती है। इसी मूर्छा का दूसरा नाम मोह है। मोह व्यक्ति के विवेक को ढँक देता है। विवेकहीन व्यक्ति के उन्नति और विकास के सारे रास्ते बन्द हो जाते हैं। उसका व्यक्तित्व छिछला और कुण्ठित हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन ही व्यर्थ हो जाता है। (शेष आगामी अंक में)

जैन दर्शन की प्रासंगिकता

स्वामी आत्मानन्द

'जैन' शब्द व्यक्ति का द्योतक न होकर गुण का द्योतक है। वह 'जिन' शब्द से निकला है, जिसका तात्पर्य होता है 'जयी'। जयी वह है, जो संग्राम में शत्रु को परास्त करता है। पर इस सन्दर्भ में यह संग्राम बाहर का नहीं, भीतर का है। हमारा मनोजगत हमारे संस्कारों का एक विशाल युद्धक्षेत्र है, जहाँ शुभ और अशुभ में अनवरत युद्ध छिड़ा हुआ है। इस युद्ध में जो विजयी होता है, वह 'जिन' है और उसने एवंविध जय प्राप्त करने के लिए जिस विधि या प्रणाली का अनुसरण किया, वह जैन दर्शन के नाम से पुकारा जाता है।

भारत की अन्य दार्शनिक प्रणालियों के समान ही जैन दर्शन भी मनुष्य को शाश्वत सुख के अनुसन्धान में लगाता है। सुख प्राप्ति की प्रेरणा प्राणिमात्र में जन्म से रूढ़ है। जहाँ भी प्राण का स्पन्दन और चेतना का प्राकट्य दिखायी पड़ता है, वहाँ सुख की प्रेरणा भी अभिलक्षित होती है। मनुष्येतर प्राणी अपनी सहज प्रवृत्ति द्वारा परिचालित हो देह-इन्द्रिय-मन के घेरे में ही बँधे रहते हैं, जबकि मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्ति का उपयोग और संचालन कर सुख की मीमांसा कर सकता है। सामान्यतः वह भी अन्य प्राणियों के समान सुख-प्राप्ति में लगा रहता है, पर वह यह भी अनुभव करता है कि सुख को पकड़कर रखना मुट्ठी में जल बाँधने के समान है। इसलिए वह मनोविश्लेषण तथा गवेषणाओं के द्वारा यह समझना चाहता है कि शाश्वत सुख नाम की कोई वस्तु है भी या नहीं।

भारत में, इस दिशा में अनेकविध प्रयोग किये गये और कुछ लोगों ने यह प्रत्यक्षतः अनुभव किया कि जीवन में शाश्वत सुख की प्रतिष्ठा करना सम्भव है और उन्होंने इसके लिए जो प्रणाली निर्दिष्ट

की, वह 'दर्शन' के नाम से पुकारी जाती है। तो, जब तक मनुष्य मनुष्य बना हुआ है, तब तक उसमें शाश्वत सुख की चाह बनी रहेगी, और तब तक इन दर्शनों की प्रासंगिकता भी यथावत रहेगी। जैन दर्शन इसका अपवाद नहीं है। आज के युग में जहाँ विज्ञान से उत्पन्न शक्तियों ने मनुष्य के मन में भौतिकवादी विचारधारा की प्रतिष्ठा की है, जैन दर्शन अपनी कुछ विशिष्टताओं के माध्यम से ऐसा कुछ सामने रखता है, जो मानव-मन को दिलासा देता है तथा भौतिकता के ताप से सुरक्षा प्रदान करता है।

हम समाज में रहते हैं। इसके लिए मानव-घटकों में परस्पर सौहार्द आवश्यक है। हम यदि अपनी सुरक्षा चाहते हैं, तो हमें दूसरों की सुरक्षा का भी ध्यान रखना पड़ता है। हम दूसरों की सुरक्षा का हनन कर स्वयं सुरक्षित नहीं रह सकते। यह जैसे मानव-मानव के बीच का सत्य है, वैसे ही मानव और इतर प्राणियों के बीच का भी। यदि हम किसी प्राणी को आघात से बचा लेते हैं, तो हमारा उसके प्रति व्यक्त होनेवाला सद्भाव उस पर किसी न किसी प्रकार से अपनी छाप डालता ही है। यदि मैं चाहता हूँ कि ठगा और छला न जाऊँ तो मुझे चाहिए कि मैं भी किसी को न तो ठगूँ, न छलूँ। यह सामान्य-सा तर्क हमें एक ऐसे सिद्धान्त के सामने ले जाकर खड़ा कर देता है, जिसे जैन दर्शन ने 'अहिंसा' के नाम से पुकारा। केवल ऊपर से हिंसा का अभाव होना ही अहिंसा नहीं है। अहिंसा वस्तुतः मन का गुण है, जो क्रिया में प्रतिफलित होती है। अहिंसा और निर्वैर साथ साथ चलते हैं। यदि मैं मनुष्य का तो रक्त चूसूँ और चीटियों की बाँबियों में शक्कर डालता फिरूँ, तो यह अहिंसा की नहीं, हिंसा की परिधि में आयगा। अहिंसा जैन दर्शन की मुकुटमणि है। वस्तुतः हृदय की लबालब करुणा ही अहिंसा का परिधेय धारण कर छलकती है। वैदिक याग-यज्ञों में पशुबलि की विकरालता ही

करुणा और अहिंसा से भरे इस जैन दर्शन को जन्म देती है। बुद्ध और महावीर करुणा की मूर्ति थे। मगधनरेश की यज्ञशाला में पशुओं को बलिखम्भे से बँधे देखकर बुद्ध ने नरपति से कहा था, "राजन्, यदि इन मूक पशुओं की बलि से तुम्हें स्वर्ग मिल सकता है, तो मुझे भी बाँध लो, मुझ नर की बलि देने से तो तुम्हें और भी बड़ा स्वर्ग प्राप्त हो सकेगा।" जैन दर्शन की अहिंसा हमें यह बताती है कि बैर से बैरभाव को दूर. नहीं किया जा सकता, वह तो अबैर ही है, जो वैराग्नि के ताप को मन्द कर सकता है।

अहिंसा के दो हाथ हैं – निर्वैर और क्षमा। उस साधु की बात मानसपटल पर लाइए, जो नदी की धारा में बहते हुए जीवित बिच्छू को बचाने का उपक्रम करता है और जिसे बिच्छू हर बार डंक मार कर विफल कर देता है। तीर पर खड़े जब किसी सांसारिक व्यक्ति ने साधु पर कटाक्ष करते हुए कहा था कि जब बिच्छू आपको बारम्बार डंक मारकर पीड़ित कर रहा है तो आप ही उसे बचाने के लिए इतने उतावले क्यों हो रहे हैं, तो साधु ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया था, "जब यह नादान प्राणी अपने डंक मारने के स्वभाव को नहीं छोड़ रहा है, तो मैं मानव और विवेकी होकर दूसरों को सुरक्षा प्रदान करने के अपने स्वभाव को कैसे छोड़ दूँ ?" आज जब मानव परस्पर की वैराग्नि से भड़ककर अशान्त और तनावग्रस्त हो रहा है, अहिंसा तत्त्व का अनुशीलन उसे अवश्य लाभ प्रदान करेगा।

अहिंसा के ही साथ सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन चार गुणों पर भी जैन दर्शन विश्वास करता है, जो समाज की सुरक्षा के लिए अनिवार्य हैं। इन पाँचों को मिलाकर 'पंच महाव्रत' कहा जाता है, जिनका पालन संसार-त्यागी साधु के लिए अनिवार्य है। गृहस्थ के लिए भी ये व्रत पालनीय हैं, पर उतनी कठोरता से नहीं। इसलिए गृहस्थों के संदर्भ में इन पंच महाव्रतों

को 'पंच लघुव्रत' भी कहा जाता है, जिसका दूसरा नाम है – 'अणुव्रत' । गृहस्थ भी अहिंसा, सत्य और अचौर्य की वृत्तियों का सम्पोषण करें । ब्रह्मचर्य का उसके लिए यह अर्थ है कि पर-नारी की वह कामना न करे तथा अपरिग्रह का तात्पर्य यह है कि वह अनावश्यक द्रव्य का संचय न करे, आवश्यकता से अधिक संचित द्रव्य को दान के द्वारा समाज के अभावग्रस्त अंगों में बंटित कर दे। आज का तनाव और विक्षोभ अन्धी अर्थलिप्सा और विषयलोलुपता का ही तो परिणाम है । जैन दर्शन ने मानवी असन्तुलन के कारणों को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से पाँच भागों में बाँटा है – हिंसा, छल, चौर्य, काम और लोभ । काम और लोभ ही हिंसा, छल-कपट और चौर्य की वृत्तियों को जन्म देते हैं। इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों के शमन के लिए उक्त पंचव्रतों की प्रतिष्ठा की गई है। आज के आपाधापी के युग में इन व्रतों का अंकुश मानवजाति के लिए कल्याणकारी ही होगा ।

'अहिंसा' की धारणा जैन दर्शन की दृष्टि को एक विशेष उदारता प्रदान करती है, जिसके कारण यह दर्शन दुराग्राही नहीं बन पाता । वह सत्य को अपनी बपौती या एकाधिकार में प्राप्त सम्पत्ति नहीं मानता । वह ऐसा नहीं कहता कि सत्य बस इतना ही है । उसका कथन है कि मैंने सत्य को इस प्रकार से देखा है, पर वह सत्य भिन्न प्रकार का भी हो सकता है । इसी को उसने 'स्याद्‌वाद' के नाम से पुकारा है । 'स्याद्' का अर्थ होता है – 'शायद' । जैन दर्शन हठपूर्वक ऐसा नहीं मानता कि यह वस्तु ठीक ऐसी ही है । उस वस्तु के अन्य पहलू भी हो सकते हैं और यह सम्भव है कि एक ही व्यक्ति उसके सभी पहलुओं को ग्रहण न भी कर सके । इसीलिए उसने 'स्याद्‌वाद' को 'अनेकान्तवाद' कहकर भी पुकारा है, जो बताता है कि सत्य के एकाधिक पक्ष भी हो सकते हैं । इसी को 'सप्तभंगी' भी कहा गया है । इसका मत है

कि किसी भी वस्तु अथवा उसके गुणों के विषय में कथन करने के, अलग अलग दृष्टि से, सात भिन्न-भिन्न प्रकार हैं । एक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार पदार्थ अथवा उसका गुण –

(१) स्याद् अस्ति – है,

(२) स्याद् नास्ति – नहीं है,

(३) स्याद् अस्ति नास्ति – है और नहीं भी है,

(४) स्याद् अवक्तव्यम् – अनिर्वचनीय है,

(५) स्याद् अस्ति च अवक्तव्यम् – है और अनिर्वचनीय है,

(६) स्याद् नास्ति च अवक्तव्यम् – नहीं है और अनिर्वचनीय है,

(७) स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् - है, नहीं भी है और अनिर्वचनीय है ।

इस स्याद्वाद का व्यावहारिक पक्ष यह है कि जैन दर्शन धार्मिक कट्टरता से परहेज करता है । आज जब धर्म के नाम पर असहिष्णु होकर मनुष्य धर्म के अर्थ का अनर्थ कर रहा है, जैन दर्शन का यह अनेकान्तवाद सहिष्णुता की शिक्षा प्रदान कर सकता है । एक ओर तो हम सत्य को अनन्त और असीम कहते हैं तथा मन को सीमित, और दूसरी ओर यह आग्रह करते हैं कि हमने ऐसे सीमित मन के द्वारा इस असीम सत्य को पूरी तरह पकड़ लिया है । अनेकान्तवाद इसी विरोधाभास की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर हमारे दुराग्रह को दूर करने का प्रयास करता है ।

जैन दर्शन इस बात पर विशेष बल देता है कि जब तक मनुष्य का नैतिक चरित्र नहीं सुधरता, तब तक वह धर्म के उदात्त तत्वों से लाभान्वित नहीं हो सकता । अन्धविश्वास और कुसंस्कार धर्म के अंग नहीं हो सकते । यह दर्शन बुद्धि के उपयोग पर बल देता है और कहता है कि लौकिक जीवन को परिवर्तित किये बिना 'केवल ज्ञान' की प्राप्ति असम्भव है । वह बताता है कि

वासनाएँ ही मनुष्य के पतन का कारण होती हैं, अतएव वासनाओं का नियमन कर उनके ऊपर उठ जाना धर्म का लक्ष्य है। इसी को मोक्ष-लाभ भी कहते हैं। वासनाओं से एवंविध मुक्ति प्राप्त करने तथा 'केवल ज्ञान' की अवस्था तक पहुँचने के लिए जैन दर्शन हमें सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र का त्रिरत्न प्रदान करता है।

त्रिरत्न में पहला स्थान सम्यक् दर्शन का आता है, जिसके पालन के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य तीन प्रकार की मूढ़ताओं को बिल्कुल छोड़ दे। ये मूढ़ताएँ हैं – लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता और पाषण्डी-मूढ़ता। नदियों में स्नान करने से शुचिता ही नहीं, पुण्य भी बढ़ता है, यह और ऐसी अनेक भ्रान्तियाँ लोक-मूढ़ता के उदाहरण हैं, जो त्याज्य हैं। देवी-देवताओं की शक्तियों में विश्वास करना, झाड़-फूँक और टोने-टोटके करना देव-मूढ़ता है। साधु-फकीरों के चमत्कार में विश्वास करना पाषण्डी-मूंढ़ता है। जैन दर्शन का कथन है कि जब तक ये अन्धविश्वास दूर नहीं होते, मनुष्य धर्म के सच्चे मार्ग पर नहीं आ सकता है।

सम्यक् दर्शन के पाठ में आठ प्रकार के अहंकारों का त्याग भी सम्मिलित है। ये अहंकार हैं –

(१) अपनी बुद्धि का अहंकार,

(२) अपनी धार्मिकता का अहंकार,

(३) अपने वंश का अहंकार,

(४) अपनी जाति का अहंकार,

(५) अपने शरीर या मनोबल का अहंकार,

(६) अपनी चमत्कार दिखानेवाली शक्तियों का अहंकार,

(७) अपने योग और तपस्या का अहंकार, तथा

(८) अपने रूप और सौन्दर्य का अहंकार।

जब मनुष्य इन मूढ़ताओं और अहंकारों का त्याग करता है, तब उसके हृदय में सम्यक् दृष्टि की प्रतिष्ठा होती है। तब वह सुख-दुःख को समान समझने लगता है। उसका प्रेम विस्तृत होकर सारे संसार को अपने पाश में बाँध लेता है। मित्र और शत्रु को वह समान भाव से प्रेम करता है। न तो उसे लोक का भय होता है, न परलोक, न रोग का, न मृत्यु का। जाति-भेद से वह ऊपर उठा हुआ होता है। वह पुरुष और स्त्री में उच्चता और लघुता का भेदभाव नहीं रखता। इन्द्रियों की भूख उसे विचलित नहीं करती और वह समस्त प्राणियों से प्रेम करता है। वह धर्म में दुराग्रही नहीं होता, बल्कि समस्त धर्मों को सत्य-प्राप्ति के विभिन्न पथों के रूप में स्वीकार करता है।

जो वस्तु जैसी है, उसे उसी प्रकार जानना 'सम्यक् ज्ञान' है। सम्यक् ज्ञान व्यक्ति को सन्मार्ग में चलाता है और उसकी क्रियाओं का शोधन करता है, जिससे उसे सम्यक् चरित्र की प्राप्ति होती है। ऐसा व्यक्ति पापों से पूर्णतया विलग हो जाता है। वह हिंसा नहीं करता, असत्य नहीं बोलता, चोरी नहीं करता, व्यभिचार नहीं करता और किसी वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं रखता। उसके जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पंचव्रत प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

ऐसा व्यक्ति समस्त देशों और सभी कालों में काम्य होता है। ऐसे व्यक्ति की प्रासंगिकता शाश्वत होती हैं और इसीलिए ऐसे व्यक्ति का निर्माण करने वाले दर्शन भी सदैव प्रासंगिक ही हुआ करते हैं।

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी विदेहात्मानन्द

११ सितम्बर, १८९३ ई. का दिन विश्व-इतिहास का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दिन था । इसी दिन स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका के शिकागो धर्ममहासभा में अपना प्रसिद्ध व्याख्यान देकर भारतीय धर्म व संस्कृति की श्रेष्ठता की कीर्तिपताका सारे विश्व में फैला दी थी । परवर्ती कई वर्षों तक वे अमेरिका तथा यूरोप में विज्ञान व युक्तिसम्मत वेदान्त-धर्म का प्रचार करते रहे । इधर भारतीय जनता उनका स्वागत व संवर्धना करने को अत्यंत आकुल हो रही थी । पाश्चात्य जगत में अपने प्रचार-कार्य की नींव सुदृढ़ कर लेने के पश्चात स्वामीजी लंदन से भारत की ओर चल पड़े । १५ जनवरी १८९७ ई. को उन्होंने कोलम्बो में भारत भूमि पर प्रथम पदार्पण किया । भारतवर्ष के विभिन्न भागों से प्राप्त आमंत्रणों को स्वीकार कर उन्होंने कोलम्बो से अल्मोड़ा की यात्रा की । सर्वत्र उनका भव्य स्वागत हुआ और अभिनन्दन-पत्र भेंट किये गये । उत्तर में स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों के द्वारा भारतीय जनता से उपनिषदों के शक्तिदायी विचारों को व्यावहारिक जीवन में अपनाने की अपील की तथा भारतवर्ष के पुनर्निर्माणार्थ अपनी कार्यप्रणाली का संकेत दिया ।

५ नवम्बर, १८९७ ई. को स्वामीजी का लाहौर में आगमन हुआ । तीरथराम गोस्वामी वहीं पर मिशन कालेज में गणित के प्राध्यापक थे । चार वर्ष पूर्व बी. ए. की परीक्षा में उन्होंने पूरे प्रान्त में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था । २३ वर्ष के इस युवक की धर्म की ओर काफी रुझान थी और वे सनातन धर्मसभा के क्रियाकलापों में सक्रिय भाग लिया करते थे । लाहौर स्टेशन पर इसी सनातन धर्मसभा के सदस्यों ने उनका भव्य स्वागत किया,

संभवतः प्रो. तीरथराम भी इनमें एक थे। उनके ठहरने की व्यवस्था राजा ध्यानसिंह की हवेली में की गयी थी। उन दिनों स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था और वे चिकित्सक के निर्देशानुसार संतुलित आहार लिया करते थे। स्वामीजी के साथ तीन अन्य संन्यासी और उनके तीन अंग्रेज शिष्य भी थे। इनमें एक अंग्रेज शिष्य मि. गुडविन आशुलिपिक थे और वे स्वामीजी के सभी व्याख्यानों का अनुलिखन 'ब्रह्मवादिन' व अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भेजा करते थे।

लाहौर में स्वामीजी ने कुल तीन व्याख्यान दिये थे। पहले व्याख्यान का आयोजन उक्त हवेली के प्रांगण में ही किया गया था। अत्यंत उत्साही सिख-जाति वेदांतकेसरी विवेकानन्द को देखने तथा सुनने को उमड़ पड़ी थी। क्रमशः भीड़ इतनी बढ़ी कि आँगन में तिल तक रखने को जगह न रही। इतना ही नहीं, बाहर के घेरे में भी काफी लोग एकत्र हो गये थे तथा स्वामीजी की एक झलक पाने की आशा में अंदर घुसने का प्रयास कर रहे थे। लोगों का अदम्य उत्साह देख स्वामीजी ने कहा कि में खुली हवा में ही व्याख्यान दूँगा। हवेली के प्रांगण में ही मंदिर के आकार का एक ऊँचा चबूतरा था। स्वामीजी उसी चबूतरे पर चढ़ गये और 'हिन्दू धर्म के सामान्य आधार' पर घंटो उनकी वाग्धारा प्रवाहित होती रही। 'राम जीवनकथा' के लेखक सरदार पूरन सिंह लिखते हैं – "उस समय उनकी छवि, उत्तम स्वास्थ्य से दमकता हुआ विशालकाय शरीर, संन्यासी की रक्तवर्ण वेषभूषा बड़ी बड़ी मनोहर आँखें, जिनका जादू सारी हवा में व्याप्त हो रहा था !... पंजाबी ऐसी शान्ति के साथ सुन रहे थे, जैसे जादू मार गया हो।"

उन दिनों लाहौर में प्रो. मोतीलाल बोस का सरकस चल रहा था। प्रो. बोस स्वामीजी के बाल्यबंधु और पड़ोसी रह चुके थे। स्वामीजी का द्वितीय प्रवचन इस सरकस के पांडाल में ही हुआ

जिसका विषय था – 'भक्ति' । स्वामीजी ने इस व्याख्यान में मूर्तिपूजा का क्रमिक इतिहास वर्णन करते हुए, पुराणों में निरूपित भक्तिमार्ग को ही सर्वसाधारण के लिए सरल पथ कहकर निर्देश किया और यह भी कहा कि दरिद्रों व मूर्खों की नारायण-भाव से सेवा करना ही मूर्तिपूजा का सर्वोत्कृष्ट रूप है । वक्तृता की समाप्ति पर स्वामीजी जब अपने निवास को लौटने लगे तो प्रो. तीरथराम भी साथ हो लिये । रास्ते में दो-चार बातें भी हुई । तीरथराम बोले – "स्वामीजी ! निःसन्देह वाग्मिता में, आपकी तुलना नहीं है, पर मुझे लगता है कि इस व्याख्यान में आपकी प्रतिभा चरम सीमा तक नहीं पहुँची ।" इस पर स्वामीजी ने उन्हें बताया कि उनका अगला व्याख्यान 'वेदान्त' पर होगा । यही उनका सर्वप्रिय विषय था और इसी में उनकी प्रतिभा देखते ही बनती थी ।

यह तीसरा व्याख्यान हवेली प्रांगण में ही हुआ था । इस व्याख्यान के द्वारा उन्होंने समझाया कि 'वेदान्त' का तात्पर्य सिर्फ अद्वैतवाद से नहीं है, वरन् प्रत्येक हिन्दू सम्प्रदाय चाहे वह द्वैतवादी हो या अद्वैतवादी या वैष्णव – वेदान्त के प्रस्थानत्रय को ही अपना प्रमाण मानने के कारण 'वेदान्ती' शब्द 'हिन्दू' का पर्याय जैसा है । आत्मा की महिमा बतलाते हुए उन्होंने कहा कि हममें से प्रत्येक के पीछे अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, अनन्त सत्ता व अनन्त वीर्य का पूर्ण भंडार है । सत्य ही अद्वैतवाद का एकमात्र लक्ष्य है, यही एकमात्र विज्ञानसम्मत धर्म है और इसी के आधार पर नैतिकता की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या संभव है । अंत में उन्होंने लाहौर के नवयुवकों को अद्वैत तथा सर्वव्यापी प्रेम की पताका फहराने और मातृभूमि के लिए अपना जीवन बलिदान करने को आह्वान किया। इस व्याख्यान ने लाहौर की जनता पर व्यापक प्रभाव डाला था । १६ नवम्बर १८९७ ई. को तीरथराम अपने एक पत्र में लिखते हैं– "उनका तीसरा व्याख्यान 'वेदान्त' पर था, जो पूरे ढाई घंटों तक

चला। श्रोतागण अत्यंत तल्लीन हो गये थे तथा इससे एक ऐसे वातावरण की सृष्टि हुई कि लोग स्थान काल तक की सुधि भूल गये थे। बीच-बीच में लोगों को अपनी आत्मा तथा परमात्मा के बीच अभेदत्व की भी अनुभूति हुई। इसने लोगों के आत्म-अभिमान व अहंकार की जड़ पर प्रहार किया। संक्षेप में, यह एक ऐसी सफलता थी, जो बहुत कम देखने को मिलती है। श्रोतागण काफी संख्या में उपस्थित थे, और वे चाहे अंग्रेज रहे हों, या मुस्लिम, आर्यसमाजी अथवा ब्रह्मसमाजी – यह सभी के लिए आँखें खोलनेवाला सिद्ध हुआ। मिशन कालेज के प्रिंसिपल तथा अन्य प्रोफेसर भी काफी लाभान्वित हुए।"

उसी पत्र में तीरथराम आगे लिखते हैं – "सार्वजनिक व्याख्यान तो हुए ही, परन्तु व्याख्यानों की तुलना में वार्तालाप के दौरान स्वामीजी का ज्ञान और भी अच्छी तरह व्यक्त होता था। मुझे उनकी आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज के नेताओं के साथ हुई व्यक्तिगत चर्चाओं को सुनने का मौका मिला। उन्होंने उनके प्रश्नों का उत्तर इतने विध्वंसक रूप से दिया तथा उनके सिद्धान्तों का ऐसा चित्रण किया कि वे लोग पूरी तौर से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर लौटे और सबसे सुंदर बात तो यह है कि उन्होंने ऐसे एक शब्द का भी उच्चारण नहीं किया जो उनकी भावनाओं को चोट पहुँचाता। अति अल्प अवधि में ही उन्होंने उन लोगों से उनके सिद्धान्तों की आधारहीनता मनवा ली। आर्यसमाज को काफी धक्का लगा। स्वामीजी ने जनसभा में पुराणों, श्राद्ध तथा मूर्तिपूजा का अनुमोदन किया था। स्वामीजी एक अच्छे पण्डित भी हैं। उन्हें बहुत सी श्रुतियाँ कण्ठस्थ हैं। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य, श्री भाष्य तथा माध्व भाष्य का अध्ययन किया है। सांख्य और योग पर उन्हें अधिकार प्राप्त है तथा भगवद्-गीता के तो वे महान व्याख्याता है। फिर वे बोलते भी काफी मधुर हैं ....। पूरा

नगर स्वामीजी के आगमन से कृतार्थ हो गया है। स्वामीजी की मेरे प्रति काफी कृपा तथा स्नेह है।"[१]

१३ नवम्बर १८९७ के अपने एक अन्य पत्र मे वे लिखते हैं – "स्वामी विवेकानन्द के लेक्चर सुने। अत्यन्त योग्य हैं। उन दिनों अवकाश बहुत कम मिला। आपका कृपापत्र भी कोई प्राप्त नहीं हुआ। आर्यसमाज को बहुत क्षति पहुँची है। "[२]

एक दिन प्राध्यापक तीरथराम ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे अपने शिष्यों के साथ उनके घर पर भोजनार्थ पधारें। स्वामीजी ने इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया और प्रो. तीरथराम ने अत्यंत प्रीतिपूर्वक उनका सत्कार किया। भोजन के उपरांत स्वामीजी ने अपनी मधुर स्वरलहरी में एक भजन गाना आरम्भ किया, "जहाँ राम तहँ काम नहीं, जहाँ काम नहीं राम।" उपस्थित लोगों का हृदय संगीत के भाव से परिपूर्ण हो उठा। प्रोफेसर ने स्वामीजी के लिए अपना व्यक्तिगत पुस्तकालय खोला। असंख्य ग्रंथों के बीच से स्वामीजी ने वाल्ट ह्विटमैन लिखित Leaves of Grass नामक पुस्तक पढ़ने के लिए चुनी। उनके साथ वेदान्त-प्रचार की कार्यपद्धति के बारे में भी चर्चा हुई। स्वामीजी ने बताया कि केवल उपनिषदों के सहारे ही भारत पुनः जाग्रत हो सकता है और साथ ही यह भी बोध करा दिया कि त्याग के बिना न तो धर्मलाभ सम्भव है और न मातृभूमि की सच्ची सेवा ही।

एक दिन संध्या के समय स्वामीजी, उनके गुरुभ्रातागण, तीरथराम तथा कुछ अन्य नवयुवक एक साथ किसी प्रमुख मार्ग पर टहल रहे थे। धीरे धीरे वे लोग छोटी छोटी टुकड़ियों में बँट गये। स्वामी रामतीर्थ दार्जिलिंग से एक पत्र में लिखते हैं – "सबसे पीछे वाले दल में एक प्रश्न के उत्तर में मैं कह रहा था कि एक आदर्श महात्मा उसे कहते हैं जो अपना अलग व्यक्तित्व

१. Swami Vivekananda - A forgotten Chapter of his life. Pp. 230-2

२. स्वामी रामतीर्थ : जीवन और दर्शन, जयराम मिश्र, पृ. ७८

खोकर सबके अंदर व्याप्त आत्मा के रूप में निवास करता है। जब किसी क्षेत्र विशेष में धूप बहुत कड़ी पड़ती है तो वहाँ की हवा गर्म होकर हल्की हो ऊपर उठने लगती है। इसके फलस्वरूप वायुमंडल की सारी हवा गतिशील हो उठती है और चारों ओर से हवाएँ आकर उस खाली स्थान को पूर्ण करने लगती है। इसी प्रकार एक महात्मा अपनी आत्मिक उन्नति के द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र में अद्‌भुत सुधार ला देते हैं। संयोगवश स्वामीजी का दल उस समय चुप था और दूर से उन्होंने हमारी बातचीत का यह अंश सुन लिया था। अचानक सड़क के बीच में खड़े होकर वे दृढ़तापूर्वक बोल उठे – 'मेरे गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस ऐसे ही थे'।"[३]

स्वामीजी के साथ आनन्द के दस दिन बीत गये तीरथराम उनके हार्दिक प्रेम से पूर्णतया अभिभूत हो चुके थे। विदा की बेला आयी। भावविभोर प्राध्यापक ने अपनी अत्यंत प्रिय सोने की घड़ी स्मृतिचिह्न के रूप में स्वामीजी को भेंट की। स्वामीजी ने युवक का उपहार सहर्ष स्वीकार कर लिया। परन्तु आश्चर्य ! दूसरे ही क्षण उनकी घड़ी को उन्हीं की जेब में वापस रखते हुए वे बोले – "अच्छा मित्र ! इस घड़ी का उपयोग मैं इस जेब में ही रखकर किया करूँगा," और मुस्कुराते हुए तीरथराम की ओर देखा। अद्वैत वेदान्त की इस व्यावहारिक व्याख्या पर मुग्ध होकर प्राध्यापक दाँतों तले ऊँगली दबा कर रह गये। घर लौटते ही तीरथराम ने घड़ी को जेब से बाहर निकाला। घड़ी की सूइयाँ उस समय ठीक एक बजा रही थीं उन्होंने उसका स्प्रींग तोड़ दिया और सूइयाँ सदा के लिए वहीं ठहर गईं। बाद के दिनों में वे जेब से घड़ी निकालकर उसमें बजे एक की ओर इंगित करते हुए कहते - मैं स्वामी विवेकानन्द के साथ एक हूँ।[४]

---

३ The life of Swami Vivekananda by Eastern and Western disciples, 1915. Vol. III P. 199-200.

४. Prabuddha Bharata. February 1936. P. 259

स्वामी रामतीर्थ के भतीजे गोस्वामी बृजलाल ने उनकी एक उर्दू जीवनी लिखी है, जिसमें उपरोक्त बातों का संक्षेप में वर्णन करने के साथ ही उन्होंने कुछ नवीन तथ्य भी दिये हैं। प्रत्यक्षदर्शी के रूप में लिखित उपरोक्त विवरण (पृ. ११५-१८) का हिन्दी अनुवाद अबोहर के सुप्रसिद्ध विद्वान प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु के सौजन्य से हमें प्राप्त हुआ है। गोस्वामी बृजलाल द्वारा लिपिबद्ध विवरण के प्रासंगिक अंश इस प्रकार हैं –

"... नवम्बर, १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द अपने शिष्यों सहित लाहौर आए। वहाँ उन्होंने हीरामण्डी में स्थित राजा ध्यानसिंह की हवेली में उसी स्थान पर डेरा जमाया, जहाँ जगद्गुरु शंकराचार्य उतरे थे। गोस्वामीजी (तीरथराम) तथा उनके छात्रों ने उनके भाषणों की भी वहीं व्यवस्था की। (प्रांगण में) श्रोताओं के लिए काफी खुला स्थान था, तथापि भीड़ इतनी होती थी कि सबके लिए भाषण सुन पाना सम्भव नहीं हो पाता था। उन दिनों संयोगवश प्रो. बोस का सर्कस लाहौर आया हुआ था। विवश होकर सर्कस में ही व्याख्यान का प्रबन्ध करना पड़ा।

"गोस्वामीजी ने काफी रुचि तथा उत्साहपूर्वक वे भाषण सुने तथा अन्य लोगों को सुनवाए। स्वामी विवेकानन्दजी से वे इतने खुले कि उन्हें भोजन के लिए अपने निवास पर भी लाए। ...अमेरिकन शिष्यों ने भी वहीं भोजन किया। यह भोजन रात का था। भोजन से निवृत्त होकर जब स्वामीजी प्रस्थान करने लगे तो उन्होंने गोस्वामीजी के पुस्तकालय पर भी दृष्टि डाली तथा एक पुस्तक भी ली।

"पंजाबी लोगों में यह प्रवृत्ति दीख पड़ती है वे घर आए महात्मा या अतिथि का अपनी सामर्थ्य के अनुसार सत्कार करते हैं और अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु भेंट के रूप में देने का प्रयास करते हैं। अतः गोस्वामीजी ने अपनी सर्वश्रेष्ठ वस्तु सोने की घड़ी उन्हें

भेंट की, परन्तु स्वामीजी ने यह कहकर उसे उन्हीं की जेब में डाल दी कि यह घड़ी मैं आप ही के शरीर पर पहनना चाहूँगा।

"अंग्रेज-अमेरिकन शिष्य-शिष्याएँ स्वामीजी को बूट पहनाया और खोला करतीं।. लाला हुकूमतराय गोस्वामीजी के एक विशेष भक्त थे। स्वामीजी के आदेशानुसार आपने ही व्याख्यानों की व्यवस्था कराई थी। वे गोस्वामीजी के साथ स्वामी विवेकानन्दजी के पास जाया करते थे। उन्हें योगवाशिष्ठ पढ़ने की आज्ञा हुई थी। (परवर्ती काल में) शिक्षा की समाप्ति पर हुकूमतराय जी ने वकालत आरम्भ की और खलीफा हुकूमतराय के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

"स्वामी विवेकानन्द यद्यपि प्रसिद्ध वेदान्ती और काफी पहुँचे-हुए संन्यासी थे, उन्होंने नित्य नियम से चण्डीपाठ करना कभी नहीं छोड़ा। वे बड़े उत्साह से यह पाठ किया करते थे। मैंने उन्हें यह पाठ करते देखा है।

"स्वामी राम का यह स्वभाव था कि किसी प्रसिद्ध वक्ता के लाहौर आने पर वे भक्तजी तथा पं. लद्धामल मुरालीवाला को बुलाते और व्याख्याता के दर्शन कराते। इस प्रकार पं. लद्धामलजी को बुलाया गया कि आकर स्वामी विवेकानन्दजी के दर्शन कर जायँ। परन्तु वे उस दिन आए जिस दिन शाम को स्वनामधन्य स्वामीजी लाहौर से बाहर ठहरने वाले थे और प्रातःकाल उन्हें कलकत्ता के लिए प्रस्थान करना था।

"उस दिन गोस्वामीजी अपने घर से स्वामीजी के पास जा रहे थे। इतने में लद्धामलजी भी आ गए और उन्हें साथ लेकर विवेकानन्दजी के पास गए। रात में ज्ञानचर्चा हीती रही। श्री स्वामी विवेकानन्द पण्डितजी की योग्यता देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहा कि हमारे साथ कलकत्ता चलो, दो सौ रुपये

मासिक देंगे। परन्तु पण्डितजी ने न कर दी। अन्ततः पण्डितजी को सोने का एक पौण्ड तथा रेशमी पगड़ी भेंट करते हुए स्वामीजी ने कहा कि ग्रामों में अब भी पण्डितजी के समान योग्य व्यक्ति मिलते हैं।" इस प्रकार स्वामीजी का यह महत्वपूर्ण लाहौर-प्रवास समाप्त हुआ।

क्षणमिह सज्जन संगतिरेका, भवति भवार्णव तरणे नौका। – सत्पुरुषों का क्षण भर का संग भी भवसागर को पार करने के लिये नाव का काम देता है। स्वामी विवेकानन्द लाहौर त्यागकर चल पड़े, परन्तु छोड़ गये युवा प्राध्यापक के हृदय में वैराग्य व मुमुक्षुत्व की एक छोटी चिनगारी। ३-४ वर्ष की अवधि में इस चिनगारी ने धधकती ज्वाला का रूप धारण कर लिया। सन् १९०० ई. की जुलाई में, २७ वर्ष की अवस्था में प्रो. तीरथराम ने संसार त्याग दिया और तपस्या के निमित्त हिमालय की गहन उपत्यकाओं की ओर चल पड़े। वहाँ पर वे एकान्त साधना करते हुए कालयापन करने लगे। आगामी वर्ष उन्होंने ज्वाल्यमान अग्नि का प्रतीक, संन्यासी का वेष – गैरिक वस्त्र भी धारण कर लिया और इस प्रकार तीरथराम गोस्वामी स्वामी रामतीर्थ बन गये।

१९०१ ई. के आखिरी दिनों में जापान से बौद्ध-धर्म के दो बड़े विद्वान भारत पधारे। उनमें एक थे एक बौद्ध मठ के अध्यक्ष रेवरेंड ओडा और दूसरे थे प्रसिद्ध दार्शनिक व शिल्पी डॉ. ओकाकुरा। इन विद्वानों ने शिकागो धर्ममहासभा जैसी ही जापान में भी एक विशाल सर्व-धर्म सम्मेलन करने की योजना बनायी थी और इसी सिलसिले में उनका भारत आगमन भी हुआ था। वे स्वामी विवेकानन्दजी से साक्षात्कार होने पर बोले – "जापान में इस समय धर्म को सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता आ पड़ी है और इस महान कार्य का सम्पादन करने में आपके अतिरिक्त दूसरा कौन सक्षम है ?" जापानी मित्रों की बात सुनकर स्वामीजी

अत्यंत हर्षित हुए और यथासम्भव सहयोग देने का आश्वासन दिया । अपने बिगड़े स्वास्थ्य के बावजूद वे धर्मभाव स्थापनार्थ जापान जाने को प्रस्तुत थे । परन्तु उनका पुन: जापान जाना न हो सका और इस घटना के लगभग ६ महीनों बाद ही उन्होंने महासमाधि ले ली ।

दूसरी ओर स्वामी रामतीर्थ अद्वैत चिन्तन में मस्त हो हिमालय के टिहरी राज्य में एकान्त विचरण कर रहे थे । टिहरी के महाराजा उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा व स्नेह के साथ अनुरक्त थे। एक दिन उन्होंने समाचार-पत्र में पढ़ा कि जापान में एक विशाल धर्म-सम्मेलन होने वाला है और अविलम्ब वे वहाँ जाने का प्रस्ताव लेकर स्वामी रामतीर्थ के पास पहुँचे । उनकी हार्दिक इच्छा थी कि स्वामीजी इस सम्मेलन में हिन्दू-धर्म का प्रतिनिधित्व करें । उन्होंने कहा कि यदि आप तुरंत रवाना हो जायँ तो सम्मेलन के लिए निर्धारित तिथि तक टोकियो पहुँच सकते हैं । स्वामी रामतीर्थ ने अपनी स्वीकृति प्रदान की और एक सप्ताह के अंदर ही वे जापान के लिये प्रस्थान कर चुके थे ।

जापान पहुँचकर स्वामी रामतीर्थ यह जानकर विस्मित रह गये कि सम्मेलन की योजना रद्द की जा चुकी है । उन्होंने वहाँ पर स्वाधीन भाव से वेदान्त-प्रचार करने का निश्चय किया और इसी उद्देश्य से वे अमेरिका भी गये । इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द लाहौर में अपने द्वारा अनुप्राणित युवा प्राध्यापक तीरथराम से स्वामी रामतीर्थ के रूप में नहीं मिल सके, परन्तु उनके संदेशों की गूँज स्वामी रामतीर्थ के सम्पूर्ण व्याख्यानों व प्रबंधों में सुनायी पड़ती है । स्वामी रामतीर्थ ने विवेकानन्दजी के अनेक भावों को आत्मसात कर उनका प्रचार भी किया, इसके अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं । परन्तु विस्तार के भय से हम अपनी लेखनी को यहीं विराम देते हैं ।

स्वामी विवेकानन्द और राष्ट्रीय पुनर्गठन

स्वामी यतीश्वरानन्द

(प्रस्तुत सारगर्भित लेख श्रीसारदा मठ, दक्षिणेश्वर में आयोजित विवेकानन्द जन्मशताब्दी समारोह में रामकृष्ण मठ व मिशन के तत्कालीन सह अध्यक्ष स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज द्वारा २२ जनवरी, १९६३ ई. को प्रदत्त उद्घाटन भाषण का अनुवाद है। - सं.)

स्वामीजी की जन्मशताब्दी भारतवर्ष तथा विश्व के लिये एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण और उन्होंने भारत और विश्व के कल्याणार्थ जन्म ग्रहण किया था। श्रीठाकुर और श्रीमाँ के शुभागमन के फलस्वरूप दक्षिणेश्वर-मन्दिर से एक आध्यात्मिक भावधारा बह निकली है, वही बाद में चलकर बेलुड़ मठ में केन्द्रिभूत हुई। वही आध्यात्मिक शक्ति ठाकुर के शिष्यों, विशेषकर स्वामीजी के माध्यम से संपूर्ण जगत् में फैल गयी है और असंख्य नर-नारियों के जीवन में प्रेरणा प्रदान कर चुकी है और अब भी कर रही है। प्रभु की कृपा से मुझे भारतवर्ष, अनेक पड़ोसी देशों और दूर के यूरोप, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों में उनकी महिमा का कुछ-कुछ दर्शन पाने का सौभाग्य मिला है। इसी आधार पर कह रहा हूँ कि उनका जन्म संपूर्ण जगत के मंगल के लिये हुआ है।

हमारे समकालीन सन्यासियों को स्वामीजी का दर्शन पाने का सौभाग्य नहीं हुआ। वे १९०२ ई. में अखण्ड के घर चले गये थे। उसके चार वर्ष बाद मैं रामकृष्ण- विवेकानन्द भावधारा के संपर्क में आया। उन दिनों भारतवर्ष में और विशेषकर बंगाल में राष्ट्रीयता के महान आन्दोलन का सूत्रपात हो रहा था। स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यान तथा लेखों ने इस आन्दोलन को आध्यात्मिक भाव से प्रेरणा प्रदान की। हमारे ही समान विश्वविद्यालय के बहुत से विद्यार्थियों ने इस राष्ट्रीय आन्दोलन में हाथ बँटाया। इसके साथ ही हम लोग ब्रह्मचर्य पालन, ठाकुर-

स्वामीजी के उपदेशों का पाठ और साधन-भजन भी करते रहे। स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित सेवाधर्म को अपनाकर हम लोग मनुष्यों और यहाँ तक कि पशुओं की भी सेवा में लग गये। परन्तु लगा कि सभी कार्यों में विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता है, अन्यथा अहित होने की संभावना है।

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत और स्वामीजी के ग्रन्थादि हम लोग विशेष मनोयोग के साथ पढ़ा करते थे। स्वामीजी को हम लोगों ने अपने जीवन के आदर्श के रूप में अपना लिया था। शुरू में तो हम लोगों ने स्वामीजी को महान देशभक्त, निर्भीक समाजसुधारक, वक्ता और प्रचारक के रूप में ही स्वीकार किया था, पर उस समय हम यह न समझ सके थे कि उनके सभी क्रिया-कलापों के मूल में उनकी आध्यात्मिकता निहित थी।

दैवेच्छा और अपने महा-सौभाग्यवश हम लोग श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यों के संपर्क में आये। उनमें ठाकुर के मानसपुत्र और संपूर्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी प्रेमानन्द, स्वामी शिवानन्द, स्वामी सारदानन्द और स्वामी तुरीयानन्द आदि थे। हम लोगों का उद्देश्य आदि सुनकर उन लोगों ने हमें खूब उत्साहित किया और कहा कि इसके लिए सभी विषयों में विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता है अन्यथा ठीक ठीक और अच्छे ढंग से सेवा करना संभव नहीं। उन लोगों ने यह भी बताया कि स्वामीजी का सेवाधर्म उनके गहन आध्यात्मिकता की नींव पर प्रतिष्ठित है। "तुम लोग भी साधन-भजन करके आध्यात्मिकता के पथ पर जितना ही आगे बढ़ोगे, उतना ही समझ सकोगे कि भगवान ही अपने अंतर में और सर्वभूतों में विराजमान हैं और उतनी ही तुम लोगों की जीवसेवा शिवसेवा में परिणत होगी।"

स्वामीजी के गुरुभाइयों ने हम लोगों को यह भी समझाया कि श्रीरामकृष्ण के माध्यम से जो शांत आध्यात्मिक भावधारा प्रवाहित

हुई थी, वही अब स्वामीजी के द्वारा महागर्जन के साथ सर्वत्र फैल रही है । पूजनीय तुरीयानन्द महाराज कहा करते थे कि अमेरिका की ओर रवाना होने के पूर्व स्वामीजी ने उन्हें कहा था – "हरिभाई, तुम लोग धर्म शब्द का क्या अर्थ लेते हो यह मैं नहीं जानता; मैं तो सिर्फ इतना ही समझता हूँ कि मेरा हृदय सबके लिए अनुभव करना सीख गया है ।" उन लोगों ने इसका अर्थ यह बताया कि स्वामी विवेकानन्द का पवित्र व शान्त हृदय अनंत भगवत्-हृदय के साथ एकाकार हो गया था । इसीलिए वे सर्वभूतों के प्रति सहानुभूति-संपन्न हुए थे । हम लोगों को भी उसी पथ का अनुसरण करना होगा । ठाकुर के चरणों में बैठकर ही स्वामीजी यह समझ सके थे – "जीव पर दया नहीं – शिवज्ञान से जीवसेवा ।" कारण – "जो कुछ है सो तूँ ही है ।" अपनी इस विराट् अनुभूति के पश्चात् ही स्वामीजी ने कहा था – "चाहे जितना भी कष्ट क्यों न हो, मैं अपने जगत् के सभी दुःखी-दरिद्रों की सेवा के लिए हजारों बार जन्म लेने को तैयार हूँ ।" संसार में अनेकों प्रकार के दरिद्र हैं - धन से दरिद्र, स्वास्थ्य से दरिद्र, नैतिक रूप से दरिद्र और आध्यात्मिक दृष्टि से दरिद्र । ये सभी स्वामीजी की सेवा और सहानुभूति के अधिकारी हैं । इसीलिये उन्होंने कहा कि सभी रूपों में नारायण की सेवा करनी होगी ।

भविष्यद्रष्टा स्वामीजी ने काफी वर्षों पूर्व ही कह दिया था कि चीनवासियों में एक विशेष जन-जागरण आयेगा और वे लोग भारतवर्ष पर भी आक्रमण कर उसे वशीभूत करने का प्रयास करेंगे । जिन स्वामीजी ने चीनियों द्वारा भारतवर्ष पर आक्रमण की बात कही है, उन्होंने ही फिर अपनी योगदृष्टि से अपनी मातृभूमि के महाजागरण का दर्शन किया था और इस सम्बन्ध में भी भविष्यवाणी की है – "हमारी भारतमाता अपनी सुदीर्घ गहन निद्रा से जाग रही है, किसी में भी यह क्षमता नहीं कि इस जागरण

को रोक सके। जाग्रत भारत फिर सोने का नहीं। बाहर की कोई भी शक्ति उसे दबाकर न रख सकेगी। श्रीभगवान का अलंघ्य आदेश है कि इस बार भारतवर्ष का अभ्युदय अवश्यम्भावी है, देश की दुर्गतिप्राप्त जनता के सुख-समृद्धि के दिन आसन्न है।"

भारतवर्ष के अधःपतन का दर्शन कर वे अपनी अभूतपूर्व भाषा में कहते हैं – "हम लोग आलसी हैं, कर्मविमुख हैं, एकता साधन में अक्षम हैं, भ्रातृप्रेम से रहित हैं और एक-दूसरे से घृणा व ईर्ष्या करते हैं – यही हमारी वर्तमान सोचनीय अवस्था का स्वरूप है।" फिर स्वामीजी हमारे पुनरुद्धार के लिये निम्नलिखित उपायों का भी निर्देश कर जाते हैं –

(१) हमें धर्म के ऊपर प्रतिष्ठित होना होगा। किसी भी सामाजिक या राजनैतिक मतवाद का आन्दोलन करने के पूर्व देश को आध्यात्मिकता की बाढ़ से प्लावित कर दो। आत्मतत्व का प्रचार करने के बाद लौकिक या तुम्हारी इच्छा के अनुरूप जो कोई भी ज्ञान अपने आप आयेगा। धर्म-समन्वय की स्थापना ही भावी भारत के गठन की पहली सीढ़ी है।

(२) शक्ति ही हमारी एकमात्र आवश्यकता है। आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। उठकर खड़े हो जाओ और अपना स्वरूप व्यक्त करो। आत्म-चेतना जाग्रत होने पर देखोगे कि क्षमता, महिमा, निष्ठा, पवित्रता आदि जो कुछ भी वांछनीय है, अपने आप ही आ जायेगी।

(३) शुद्ध देशभक्तों का गठन करना होगा। लौह के समान दृढ़ पेशी, इस्पात के समान कठोर स्नायु, और प्रचण्ड इच्छाशक्ति से सम्पन्न बलिष्ठ मनुष्यों की आवश्यकता है।

(४) हमें ऐसी शिक्षा की जरूरत है, जिसके द्वारा चरित्रगठन हो, मन की शक्तियों में वृद्धि हो, बुद्धिबल का विकास हो और

व्यक्ति अपने पाँवों पर खड़ा हो सके । ऐसी शिक्षा चाहिए जिससे चरित्रबल आये और मनुष्य-निर्माण हो । पाश्चात्य विज्ञान के साथ वेदान्त का समन्वय और इसके साथ ही ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और आत्मविश्वास शिक्षा के मूलमंत्र होंगे ।

(५) जनसाधारण की सर्वांगीण उन्नति करनी होगी । एक शिक्षायतन के द्वारा गण-उन्नति का भाव प्रचारित करना होगा । उसमें शिक्षा प्राप्त प्रचारकगण गरीबों के द्वार पर लौकिक व आध्यात्मिक शिक्षा का वितरण करेंगे । जो शिक्षा और संस्कृति उच्चवर्ग की शक्ति का स्रोत है, उसे निम्नश्रेणियों में आत्मसात कराना होगा । वर्ण साम्य लाने का यही उपाय है ।

(६) नारी जाति की उन्नति अत्यन्त आवश्यक है । सबसे पहले तो यह देखना होगा कि हिन्दू नारी सतीत्व के आदर्श को पृथ्वी की सम्पूर्ण सम्पत्तियों से भी उच्च स्थान दे । फिर उन्हें इतिहास, पुराण, धर्म, कला, विज्ञान, गृहस्थी, पाककला, स्वास्थ्य विज्ञान की शिक्षा देनी होगी । अन्यान्य विषयों के साथ ही महिलाओं को साहस और वीरता का भी अर्जन करना होगा, आत्मरक्षा का कौशल सीखना होगा । इस ओर ध्यान रखना कि ये बालिकाएँ बाद में चलकर आदर्श गृहणियाँ बन सकें ।

स्वामीजी की इच्छा थी किं भारत के आध्यात्म-विज्ञान और पश्चिम के जड़-विज्ञान के समन्वय से प्राच्य और पाश्चात्य के बीच एकता स्थापित हो । भारत के धर्मप्रचारकगण पाश्चात्य देशों में जायेंगे और वहाँ से पाश्चात्य विज्ञान के शिक्षा का फल भारत में लायेंगे ।

भगवान श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ द्वारा प्रदर्शित मत का प्रचार करने के लिये स्वामीजी ने मठों की स्थापना करने की इच्छा व्यक्त की थी । इसीलिये उन्होंने बेलुड़ मठ स्थापित करते

समय एक स्त्री मठ स्थापित करने की भी योजना बनायी थी। श्रीमां के जन्मशताब्दी वर्ष (१९५४ ई.) में उनकी यह कामना कार्य रूप में परिणत हुई। स्वामीजी की इच्छा थी कि संन्यासियों की ही भाँति संन्यासिनियाँ भी सांसारिक कामना-वासना को त्यागकर, ब्रह्मनिष्ठ हो – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के व्रत में अपना जीवन निवेदित करें, राष्ट्रहित के कार्य में – विशेषकर नारी शिक्षा के विस्तार में आत्मनियोग करें।

देश इस समय बुरी अवस्था से गुजर रहा है। अतः स्वामीजी की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में उनकी स्मृति रक्षणार्थ ईंट-पत्थर आदि जड़ पदार्थों से विराट् भवन आदि का निर्माण उचित न होगा। आज हमें उनके भाव का प्रचार करने का अभूतपूर्व मौका मिला है। हमें अपना जीवन उनके आदर्श में ढाल लेना होगा और उसी आदर्श का सर्वत्र प्रचार करना होगा। वर्तमान काल में स्वामीजी की स्मृति रक्षा का यही सच्चा उपाय है। स्वामीजी ने कहा था – "First let ourself be god, then help others to be gods." – सर्वप्रथम हमें स्वयं देवत्व में प्रतिष्ठित होना होगा, तत्पश्चात सभी को देवत्व की प्राप्ति में सहायता करनी होगी।

स्वामीजी का यह उपदेश हम सदा-सर्वदा स्मरण रखकर और कार्य रूप में परिणत कर, मूर्त रूप में उनकी स्मृतिरक्षा कर अपना जीवन धन्य कर सकें – श्रीठाकुर, श्रीमाँ और स्वामीजी के चरणों में मेरी यही प्रार्थना है।
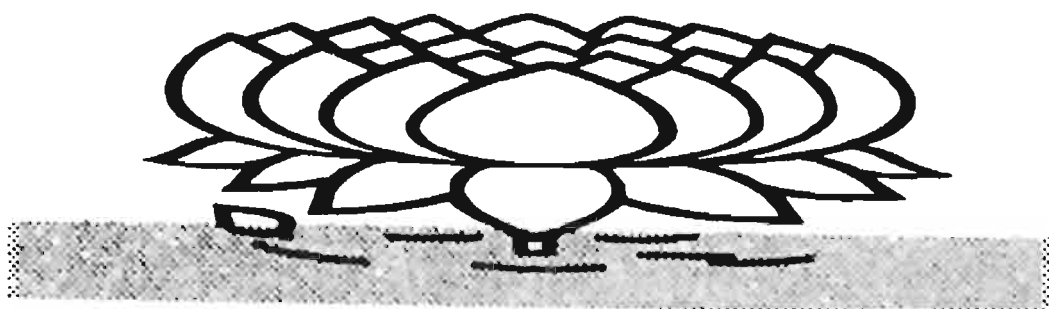
अविस्मरणीय स्वामी विवेकानन्द

मोहन लाल शाह

(श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण अपने अल्मोड़ा प्रवास के दौरान लाला बद्री शाह के मकान पर ठहरा करते थे। मोहनलाल शाह उन्हीं के भानजे थे और मायावती आश्रम के प्रारम्भ से ही उससे जुड़े थे। उन्होंने लगभग ३६ वर्ष तक उक्त आश्रम में निवास किया और १९२३ ई. तक वे आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के मुद्रक तथा प्रकाशक रहे। ११ अक्टूबर १९६२ ई. को एक साक्षात्कार के समय उनकी स्मृतिकथा बँगला में लिपिबद्ध होकर रामकृष्ण मिशन शिक्षणमन्दिर, बेलुड़ मठ के मुखपत्र 'सन्दीपन' के विवेकानन्द-शताब्दी-जयन्ती स्मारक संख्या में प्रकाशित हुई थी। फिर लोहाघाट में स्वामीजी की जन्मशताब्दी के अवसर पर उनके द्वारा पठित एक प्रबन्ध का आंग्ल रूपान्तर भी 'प्रबुद्ध भारत' के जनवरी १९६४ ई. अंक में छपा है। उपरोक्त स्रोतों से सामग्री संकलित कर वर्तमान हिन्दी लेख प्रस्तुत किया गया हैं। - सं.)

स्वामीजी का मुझे चार बार दर्शन करने का सौभाग्य मिला था। १८९० ई. में जब वे परिव्राजक के रूप में अल्मोड़ा आये, उस समय पहली बार मैंने उनका दर्शन किया। उस समय वे लाला बद्री शाह के यहाँ अतिथि के रूप में ठहरे थे। मैं संयोगवश ही वहाँ गया और उनसे मिला। उस समय उन्हें प्रणाम करके मैं चला आया। मेरी आयु तब लगभग बारह वर्ष की थी, तथा वह पहली झलक अब भी मेरे स्मृतिपटल पर जाज्वल्यमान है। उनका तेजोमय व्यक्तित्व देखकर मैं चकित रह गया था। वे मानो एक द्वितीय बुद्ध के समान दीख पड़ते थे। अब तक मैंने उनके समान किसी अन्य को नहीं देखा। उस समय स्वामी अखण्डानन्द भी उनके साथ थे।

स्वामीजी का मैंने दूसरी बार दर्शन किया , उनके अमेरिका से लौट आने के बाद १८९७ ई. में। स्वामीजी के आगमन का संवाद पाकर बद्री शाह के छोटे भाई और मैं दौड़कर अल्मोड़ा से डेढ़ मील दूर तक चले गये थे। वहाँ जो कुछ देखा, वह चित्र आज भी मेरी स्मृति में अंकित हैं। पल्टन बाजार से ही लोगों की

भीड़भाड़ शुरू हो गयी थी। सभी फूल, माला इत्यादि लेकर दौड़ रहे थे। कितनी ही डण्डियाँ थीं, कितने ही घोड़े थे और कितने ही विदेशी नर-नारी भी उपस्थित थे। रास्ते के दोनों ओर से लोग फूल और अक्षत की वर्षा कर रहे थे। भीड़ इतनी थी कि मैं काफी प्रयास करके भी स्वामीजी के समीप नहीं पहुँच सका। स्वामीजी की अभ्यर्थना हुई। उन्होंने भी व्याख्यान दिया। मेरी आयु तब १८-१९ वर्ष की थी। अब मैं इतना वृद्ध हो चला हूँ कि उस दिन की बातें ठीक-ठीक स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ।

उस समय श्री गुडविन भी स्वामीजी के साथ थे और उन्हीं का विवरण उद्धृत करके मैं उस अवसर का ठीक वर्णन कर सकूँगा, जो निम्नलिखित है —"स्वामीजी की यात्रा के अन्तिम चरण में, अपराह्न के समय अल्मोड़ा के पास लोदिया नामक स्थान में नागरिकों का विराट् समुदाय उनकी प्रतीक्षा कर रहा था, जिनके अनुरोध पर स्वामीजी एक सुसज्जित घोड़े पर सवार हुए और शोभायात्रा के आगे आगे चलते नगर में प्रवेश किया। जब वे बाजार में पहुँचे तो ऐसा लगता था कि वहाँ के सभी लोग जूलूस में सम्मिलित हो गये हैं। भीड़ इतनी ज्यादा थी कि स्वामीजी को ले जाने में भी कुछ कठिनाई का सामना करना पड़ा। स्वामीजी के वहाँ से होकर गुजरते समय हजारों हिन्दू नारियों ने अपने मकान की छतों और खिड़कियों से उन पर फूल और अक्षत बरसाये। नगर के बीच एक पुराने ढंग के बाजार मार्ग को लगभग तीन हजार लोगों के बैठने के उपयुक्त एक पण्डाल में परिवर्तित कर दिया गया था। छत के रूप में मार्ग के सभी ओर से रंग-बिरंगे परदे ताने गये थे और उसके अन्तिम छोरों को पुष्प, तोरण और पताकाओं से सजाया गया था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक घर में इतने दीप जलाये गये थे कि पूरा नगर ही प्रकाश का एक ज्योतिपुंज सा दीख पड़ता था और स्थानीय संगीत

तथा लोगों की निरन्तर जयध्वनि के फलस्वरूप, स्वामीजी के साथ कोलम्बो से ही यात्रा करने वालों को भी वह दृश्य अत्यन्त असाधारण प्रतीत हुआ।

"पण्डाल के भीतर और बाहर चार-पाँच हजार लोगों की भीड़ और आवेगपूर्ण वातावरण के कारण स्वाभाविक रूप से ही अभ्यर्थना समिति की ओर से पण्डित ज्वालादत्त जोशी ने हिन्दी में एक स्वागत भाषण पढ़ा। पण्डित हरिराम पाण्डे ने स्वामीजी के आतिथेय लाला बद्रीशाह ठुलघरिया की ओर से दूसरा भाषण और तदुपरान्त एक अन्य पण्डित ने संस्कृत में एक सुन्दर भाषण पढ़ा।" इन कार्यक्रमों में भाग लेनेवाले उस पर्वतीय नगरी के सौभाग्यशाली नागरिकों में मैं भी एक था।

तीसरी बार मैंने स्वामीजी को पुनः अल्मोड़ा में ही १८९८ ई. में देखा। उस समय वे वायु-परिवर्तन के लिए संक्षिप्त यात्रा पर वहाँ आये थे, साथ में उनके कुछ भारतीय और विदेशी शिष्य भी थे। उस समय स्वामीजी के आदेश पर 'प्रबुद्ध भारत' को पुनः निकालने की व्यवस्था हुई। अल्मोड़ा के 'द माल' मुहल्ले में टामसन हाउस नाम के एक बड़े बँगले में प्रबुद्ध भारत प्रेस स्थापित हुआ। स्वामीजी के एक शिष्य स्वरूपानन्द उस पत्रिका के सम्पादक थे। एक दिन स्वामी स्वरूपानन्द बाजार में आये हुए थे, वहीं मेरा उनसे परिचय हुआ और उन्होंने मुझसे प्रेस में काम करने को कहा। वे मेरे प्रति इतने सदय थे और मैं उनके मधुर व्यवहार पर इतना मुग्ध हुआ कि अगले दिन ही मैं उनके साथ रहने को टामसन हाउस चला आया। सम्भवतः वह अक्तूबर का महीना था। स्वामीजी को गये हुए कई माह हो चुके थे। वे ही सेवियर साहब को प्रेस का भार सँभालने को कह गये थे।

लगभग चार महीने बाद मार्च १८९९ ई. में जब कैप्टेन और श्रीमती सेवियर ने मायावती में अद्वैत आश्रम प्रारम्भ किया, तो

प्रबुद्ध भारत भी वहाँ अपने स्थायी भवन में स्थानान्तरित हुआ। अन्य लोगों के साथ ही मैं भी मायावती चला आया। स्वामी स्वरूपानन्द मायावती आश्रम के प्रथम अध्यक्ष हुए। वहाँ पर प्रेस भलीभाँति चलने लगा। एक-दो वर्ष बाद सेवियर का देहावसान हुआ। मायावती में उस समय कोई डॉक्टर, वैद्य आदि नहीं रहते थे, किसी प्रकार की चिकित्सीय सुविधा सम्भव न थी। सेवियर साहब बड़े अस्वस्थ थे। स्वरूपानन्द स्वामी ने मुझसे अल्मोड़ा जाकर डॉक्टर ले आने को कहा था। शाम को पाँच बजे मैं रनर के साथ जाने को तैयार बैठा था। सेवियर साहब पक्के वेदान्ती थे, स्वामीजी के ठीक-ठीक शिष्य थे उन्होंने मुझे मना किया, किसी भी तरह जाने नहीं दिया।

स्वामीजी के मायावती आगमन की स्मृति अब भी मेरे नेत्रों के समक्ष स्पष्ट प्रतिभात होती है। १९०१ ई. के जनवरी का महीना था। उनके साथ महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) और गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) भी आ रहे थे। स्वामीजी आश्रम में आने वाले थे – हमारे आनन्द की सीमा न थी। ज्ञान महाराज और मैंने मिलकर स्वामीजी के लिए फूल का एक द्वार तैयार किया – आजकल जहाँ घण्टा लटकाया हुआ है, वही द्वार बना था। कालीकृष्ण महाराज (स्वामी विरजानन्द) बड़े अद्‌भुत पुरुष थे – स्वामीजी का स्वागत कर ले आने के लिए पैदल ही चले गये थे। कालीकृष्ण महाराज के लिए ही वह सम्भव था। मायावती में उस समय स्वामी विमलानन्द, स्वामी स्वरूपानन्द और बूढ़े बाबा निवास कर रहे थे। मायावती में उन दिनों कुछ मिलता नहीं था। सब लोग बड़ी चिन्ता में पड़े कि स्वामीजी आ रहे हैं और उस समय कुछ जुटा पाना सम्भव नहीं होगा। बूढ़े बाबा ने मुझसे कहा, "देखो, स्वामीजी के लिए कुछ शाक-सब्जी की व्यवस्था हो सकती है क्या ?" मैंने विभिन्न गाँवों में

घूम-घूमकर जो भी मिल सका, जुटाया। ठीक बारह बजे का समय था – टन, टन, टन आश्रम में भोजन का घण्टा बज रहा था। उसी समय स्वामीजी ने मायावती में पदार्पण किया। मैं बड़े आनन्दपूर्वक दौड़कर गया और बन्दूक से दो गोलियाँ दागी। अहा! उस समय की बात और क्या कहूँ।

दो-एक दिन मात्र स्वामीजी आश्रम-भवन के ऊपर के कमरे में रहे। परन्तु उसके बाद इतना भयंकर हिमपात होने लगा कि उस ठण्डक के दौरान स्वामीजी को ऊपर के कमरे में नहीं रखा जा सका। वहाँ आग जलाने की व्यवस्था नहीं थी। इसीलिए स्वामीजी आखिरकार नीचे के गोल कमरे में रहने लगे – उसमें आग जला रखने की व्यवस्था थी और सारे समय आग जलती भी रहती थी।

वहाँ सर्वदा लोग स्वामीजी को घेरकर बैठे रहते थे। मैं तो एक अदना-सा मूर्ख छोकरा था – उनके पास जा ही नहीं पाता! परन्तु मन ही मन बड़ी आकांक्षा होती – अहा! यदि मैं भी थोड़ा-सा उनके चरण छू पाता, यदि थोड़ी-सी बातें कर पाता! जो हो, इसके लिए मैंने एक उपाय भी ढूँढ़ निकाला। वहाँ रहते समय स्वामीजी ने दो प्रबन्ध लिखे थे। उनमें से एक था 'आर्य और तमिल' तथा दूसरा थियॉसफी के बारे में था। एक और भी कुछ उन्होंने लिखा था। मैं प्रूफ दिखाने के बहाने उनके पास जाया करता था, जाकर उनके बिल्कुल निकट ही पाँवों के पास बैठता था। मैंने उनके चरण छूए हैं, चरण छूकर प्रणाम किया है। वह बात सोचकर आज भी मुझे रोमांच हो आता है। अहा, उनमें कितनी दया थी! मैं था ही क्या! और उन्होंने मेरा मानव जन्म धन्य कर दिया। उनके देहत्याग करने के बाद भी उस दया का खूब आभास मिला है। एक दिन सपने में मैं खूब रो रहा था,

उनके दोनों पाँव जकड़कर खूब रो रहा था। स्पष्ट दर्शन मिला वे मायावती के सीढ़ियों से उतरते चले आ रहे थे।

अल्मोड़ा में एक बार बद्री शाह के मकान पर जब मैंने उन्हें देखा, उस समय वे दाढ़ी बनवा रहे थे। वह दृश्य आज भी नेत्रों के समक्ष भास रहा है। मानो साक्षात बुद्धदेव हों, सच कहता हूँ – बुद्धदेव ! अहा ! क्या व्यक्तित्व था ! चित्र के द्वारा वैसा नहीं समझा जा सकता। और यहाँ मायावती में एक दूसरा ही भाव दीख पड़ा। टहलते समय उनके शरीर पर गरम लम्बा कोट रहता था। महापुरुष महाराज आदि भी साथ में रहते थे। उनका स्वास्थ्य उस समय ठीक न था। डील-डौल पहले की अपेक्षा खराब हो गया था। परन्तु उनके नेत्र क्या ही अद्‌भुत थे ! मैं उन नेत्रों का वर्णन नहीं कर सकूँगा। कोई साधारण व्यक्ति उन नेत्रों की ओर देख ही नहीं पाता था। जब टहलते थे तो सिंह के समान – वह दृश्य देखकर हृदय भर जाता था, प्राण शीतल हो जाते थे। अचानक ही यदि किसी की दृष्टि उन पर पड़ती, तो वह सोचता – हाँ , महापुरुष ही तो हैं ! हाँ, अद्‌भुत महापुरुष हैं।

जिस दिन वे मायावती से नीचे उतरे, उस दिन मैं भी चम्पावत के पथ पर कुछ दूर गया था। कालीकृष्ण महाराज तब भी स्वामीजी के साथ चले जा रहे थे। अब वह सब स्मृति की चीजें हैं – परन्तु पुण्यस्मृति की। उनके स्मरण मात्र से पुण्य होता हैं।
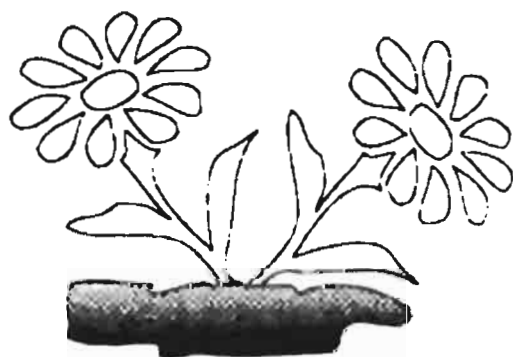
माँ के सान्निध्य में (३३)

सरयूबाला देवी

(प्रस्तुत संस्मरणों की लेखिका श्री माँ सारदा देवी की शिष्या थीं। मूल ग्रन्थ "श्री श्री मायेर कथा" के प्रथम भाग से इसका अनुवाद किया हैं स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं।– स)

उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता, १५ जून, १९१२

चार बजे शाम का समय होगा। श्री माँ बहुत सी स्त्री भक्तों के साथ बैठी हैं। मेरे परिचितों में उनमें मास्टर महाशय की पत्नी, डॉ. दुर्गापद बाबू की पत्नी, नरेन बाबू की बुआ, गौरी माँ और उनकी पालिता कन्या जिन्हें मैं दुर्गा दीदी कहा करती थी, आदि थीं। और बाकी से मेरा परिचय नहीं था। माँ सहास्य वदन सबके साथ बैठी बातचीत कर रही थीं। मुझे देखकर उन्होंने कहा, "आओ बेटी, आओ, बैठो।" गौरी माँ से कहलवा कर मैं नीचे ऑफिस से 'निवेदिता' और 'भारत में विवेकानन्द' ये दो पुस्तकें ले आयी। मेरी इच्छा थी कि माँ 'निवेदिता' से कुछ सुनें। माँ ने पुस्तक देखकर कहा, "कौन सी पुस्तक हैं ?" मैंने कहा, "निवेदिता।" माँ मैं कहा, "पढ़ो तो बेटी, थोड़ा सुनूँ। उस दिन मुझे भी उसकी एक प्रति दी गयी थी, पर अभी तक सुनना हुआ नहीं।" इतने लोगों के बीच पढ़ने में यद्यपि मुझे लज्जा का अनुभव हो रहा था तथापि निवेदिता के सम्बन्ध सें सरला बाला ने कितना सुन्दर लिखा है यह माँ को सुनाने की इच्छा थी इसलिए माँ के आदेश से मैंने उसे पढ़ना प्रारम्भ किया। श्री माँ तथा उपस्थित महिलाएँ दत्तचित्त से सुनने लगीं। निवेदिता की भक्ति की बात सुनकर सबकी आँखें अश्रुसिक्त हो उठीं। मैंने देखा कि माँ की आँखों से भी आँसू बह निकले। इस प्रसंग में वे कहने लगीं, "अहा ! निवेदिता की कैसी भक्ति थी ! मेरे लिए वह क्या करे, क्या न करे कुछ सोच नहीं पाती थी। रात में जब वह

मिलने आती तो लालटेन की रोशनी से मेरी आँखों को कष्ट होगा सोचकर उसमें कागज लगा देती। प्रणाम करके अपने रूमाल से बड़ी सावधानी से मेरे चरण रज लेती। मैं देखती – उसे मेरे पैरों पर हाथ लगाने में भी संकोच का अनुभव हो रहा है।" यह सब कहकर माँ मानो निवेदिता के बारे में सोचते हुए स्थिर सी हो गयीं। तब उपस्थितों में सभी निवेदिता के बारे में जो जितना जानती थी, कहने लगीं। दुर्गा दीदी ने कहा, "भारत का दुर्भाग्य है कि वे इतनी शीघ्र चली गयीं।" और एक अन्य ने कहा, "वे मानो भारत की ही थीं। स्वयं भी वे यही कहा करती थीं। सरस्वती पूजा के दिन वे होम का तिलक लगाकर नंगे पैर घूमती रहती थीं।" पुस्तक का पठन समाप्त हुआ। श्री माँ तब भी बीच बीच में निवेदिता के बारे में दुःख प्रकाश करने लगीं। अन्त में उन्होंने कहा, "जानती हो बेटी, जो सत्प्राणी होता है उसके लिए अन्तरात्मा रोती हैं।"

अब माँ कपड़े बदलकर ठाकुर का सांध्य भोग देने बैठीं। इसके पूर्व उन्होंने कई फूल मालाएँ अपने ही हाथों से बनाकर ठाकुर को पहनाने की इच्छा से उनके सामने रख दिया था। ब्रह्मचारी रासबिहारी ने उसी के पास भोग का रसगुल्ला लाकर रख दिया। उसका रस फूलमाला में पड़ने से काले चींटे आकर उसमें लग गये। माँ हँसते हँसते कहने लगीं, "इस बार ठाकुर को चींटे काटेंगे। ओ रासबिहारी ! यह तुमने क्या किया ?" यह कहकर उन्होंने सावधानी से चींटों को अलगकर माला ठाकुर को पहना दिया। माँ का सबके सामने अपने पति को माला पहनाकर सजाते देख राधू की माँ मुँह दबाकर हँसने लगी। श्री माँ ने गौरी माँ को सबको प्रसाद देने के लिए कहा तथा सबने प्रसाद पाया।

एक स्त्री भक्त ने कहा, "माँ, मेरी पाँच लड़कियाँ हैं। उनका विवाह नहीं कर पायी हूँ, इसलिए बड़ी चिन्ता में हूँ।"

श्री माँ – "विवाह नहीं कर पा रही हो कहकर यह सब सोचने से क्या फायदा होगा ? निवेदिता के स्कूल में भरती कर दो। लिखना पढ़ना सीखेंगी, आनन्द में रहेंगी।"

यह सुनकर एक अन्य स्त्री-भक्त ने कहा "माँ के प्रति तुम्हारा भक्ति-विश्वास हो तो वही करो, अच्छा होगा। माँ ने जब कहा है तो फिर चिन्ता की क्या बात ?" कहना न होगा कि लड़कियों की माँ ने इन सब बातों पर ध्यान नहीं दिया।

फिर किसी ने कहा, "आजकल लड़के मिलना कठिन हैं। फिर लड़के लोग विवाह नहीं करना चाहते हैं।"

श्री माँ – लड़कों को अब ज्ञान हो रहा है। संसार अनित्य है, यह वे समझ पा रहे हैं। संसार में लिप्त होने से जितना बचा जाय उतना ही अच्छा हैं।

एक एक करके बहुतों ने श्री माँ को प्रणाम करके बिदा ली। संध्या हो चली थी। पूजनीया योगिन माँ ने आकर माँ को प्रणाम किया और वे ठाकुर की संध्या-आरती के लिए बैठीं। माँ बरामदे में एक किनारे बैठीं जप-ध्यान कर रही थीं। बाद में उनके उठकर आने पर अन्य स्त्री भक्तों ने उन्हें प्रणाम करके बिदा ली।

सबके चले जाने पर माँ को अकेली पाकर मैंने पूछा, "अशौच अवस्था में क्या स्त्रियों द्वारा ठाकुर-पूजा की जा सकती हैं ?"

श्री माँ ने कहा, "हाँ, की जा सकती है – यदि ठाकुर के प्रति उस प्रकार का प्रेम हो। यह बात मैंने भी ठाकुर से पूछी थी। उन्होंने कहा था, 'पूजा न कर पाने के कारण यदि तुम्हारे मन में बहुत कष्ट हो, तब करना, उसमें दोष नहीं। अन्यथा नहीं करना।" अतः तुम पूजा करो पर मन में कोई संशय आवे तो न करना। माँ सभी को ऐसा करने को कहती हों, ऐसी बात नहीं। क्योंकि कुछ दिन बाद ही यही प्रश्न जब एक स्त्री ने पूछा तो

उन्होंने कहा था, "ऐसी अवस्था में क्या भगवान की पूजा करनी चाहिए ? वह मत करो ।" इस प्रकार लोगों की मानसिक अवस्था देख माँ कब किसको क्या कहती थीं, समझना कई बार कठिन हो जाता है ।

रात बढ़ चली थी । अब तक मुझे लेने के लिए कोई आया नहीं था । गोलाप माँ द्वारा पूछने पर नीचे से किसी ने कहा, "हम लोगों ने कह दिया है कि वे शायद गौरी माँ के साथ चली गयी हैं ।" यह सुन मैंने माँ से कहा, "कोई न आया तो रुकना हो जायेगा ।"

माँ ने कहा, "उसकी कोई बात नहीं, पर आज पहला आषाढ़ है – अगस्त्य यात्रा है, आज के दिन घर से निकलकर बाहर नहीं रहना चाहिए ।"

मैंने मन में विचार किया, "ऐसे स्थान में यदि अगस्त्य यात्रा हो तो वह अच्छा ही है ।

रात में ठाकुर के भोग के बाद सब प्रसाद पाने बैठे । माँ ने शाम को मुझे बहुत सा प्रसाद दिया था, इसलिए प्रसाद लेने की मेरी अनिच्छा जताने पर गोलाप माँ नें कहा, "क्यों जी, हमारे यहाँ आकर उपवासी क्यों रहोगी ?"

माँ ने कहा, "न, न, वह थोड़ा बहुत अवश्य खायेगी । यह कहकर उन्होंने स्वयं एक प्लेट में चार पूड़ियाँ, सब्जी और मिठाई आदि लाकर मुझे दिया । तब रात के ११ बज चुके थे । इसी समय विनोद मुझे लेने आया । गौरी माँ के आश्रम में मुझे न पाकर वह फिर से यहाँ आया था । नीचे साधु, ब्रह्मचारी गणों में बहुत से सो गये थे । माँ को प्रणाम करके उनसे बिदा लेते समय उन्होंने कहा, "रुकना नहीं हुआ बेटी, ठीक है और किसी दिन आकर रुकना ।"

मैं बड़ी सावधानी से नीचे उतर रही थी कि पूजनीय शरत् महाराज को कहते सुना, "विनोद, सीढ़ी से सावधानी से उतरवाना। रात हुई है।" वे नीचे, बैठकखाने में सोये हुए थे। घर पहुँचते रात के १२ बज चुके थे।

और एक दिन जाकर देखती हूँ कि माँ दोपहर में भोजन के बाद आराम कर रही हैं। उनकी आज्ञानुसार मैं उनके पास लेटकर उन्हें पंखा झलने लगी। अचानक वे अपने आप कहने लगीं, "इसीलिए तो बेटी, तुम सब लोग आयी हो, पर वे (ठाकुर) अब कहाँ है? " सुनकर मैंने कहा, "इस जन्म में तो उनका दर्शन मिला नहीं। किसी जन्म में मिलेगा या नहीं, वे ही जानते हैं। आपका दर्शन पा लिया है – यही हम लोगों के लिए परम सौभाग्य की बात है।" श्री माँ ने कहा, "सो तो है।" मैं सोचने लगी – मैं कितनी भाग्यशालिनी जो उन्होंने मेरे इस कथन को स्वीकार तो किया। सब समय तो देखती हूँ कि वे अपने विषय की बातें छिपा लेती हैं।

माँ के पास कितने लोगों की कितने प्रकार की गोपनीय बातें हो सकती हैं, मैं अबूझ उस समय समझ नहीं पाती थी। भला समझ भी कैसे सकती – कुछ दिनों से ही तो माँ के पास आना जाना हो रहा था। इसलिए जब माँ को उनके कमरे में नहीं पाती तो बिना उनके आने की प्रतीक्षा किये वे जहाँ रहतीं वहाँ पहुँच जाती थी। एक दिन शाम को दो सुन्दर युवतियाँ माँ के साथ उनके कमरे के उत्तरी बरामदे में एकान्त में कुछ बातें कर रही थीं। उस समय माँ से मिलने मैं वहाँ जा पहुँची। मैंने माँ को कहते सुना, "ठाकुर के पास अपने मन की इच्छा व्यक्तकर प्रार्थना करना। प्राणों की व्याकुलता रो रोकर निवेदित करना – देखोगी वे तुम्हारी गोद भर देंगे।" मुझे समझने में देर नहीं लगी कि दोनों बहुएँ माँ के पास सन्तान सुख की याचना कर रही थीं। मुझे

देखकर वे लज्जित हो गयीं और मैं भी उतनी ही। इससे मुझे बड़ी सीख मिली। मैंने मन ही मन निश्चित किया कि अबसे कभी माँ को बिना सूचित किये मिलने नहीं जाऊँगी।

गौरी माँ आयी हैं। ठाकुर की बातें सुनाने का उनसे अनुरोध करने पर वे बोलीं, "मैं ठाकुर के पास काफी पहले गयी थी। बाद में अन्य लोगों ने आना प्रारम्भ किया। नरेन, काली इन सबको उनके छोटेपन से देखा है।" समय अधिक नहीं रहने से और बातचीत नहीं हुई। माँ को प्रणाम करके गौरी माँ ने बिदा ली। मुझे भी जाना था। माँ को प्रणाम कर बिदा माँगते समय माँ न बरामदे में बुलाकर प्रसाद दिया और बोलीं, "फिर आना, बेटी ! मेरे सब बेटे बेटी लोग आ आते हैं फिर एक एक करके चले जाते हैं। एक दिन सबेरे ७ बजे आना और यहीं प्रसाद पाना।"

रथयात्रा

आज सबेरे ७ बजे गौरी माँ के आश्रम गयी थी। उन्होने प्रसाद पाने का निमंत्रण दिया था। इच्छा थी कि वहाँ से सबेरे सबेरे माँ के पास पहुँच जाऊँगी, किन्तु सुयोग नहीं जम पाया। ठाकुर का भोग और भक्तसेवा समाप्त होते होते दो बज गए। चार बजे गौरी माँ को साथ ले माँ के पास गयी। तब माँ शाम का भोग चढ़ाने के लिए बैठी थीं। भोग के उठने पर पहले गौरी माँ ने और फिर मैंने माँ को प्रणाम किया। गौरी माँ ने एकान्त में ले जाकर उनसे कुछ बातचीत की और फिर मुझे बुलाया। माँ के लिए मैं एक रेशमी वस्त्र ले गयी थी। उसे उनके चरणों में रखते हुए प्रणाम करके मैंने कहा, "माँ, इसे पहनियेगा।" माँ ने हँसकर कहा, "हाँ, अवश्य पहनूँगी।" गौरी माँ मेरी स्नेहभरी प्रशंसा करने लगीं। माँ भी उसमें योगदान देने लगीं। ठाकुर घर में उस समय मास्टर महाशय की पत्नी और कन्या तथा और भी अनेक स्त्री

भक्त थीं । सबको मैं पहचानती नहीं थी । मास्टर महाशय की कन्या और पत्नी से कुछ देर बातचीत के बाद, पुरुष भक्तों के प्रणाम की बारी आने पर हम सब लोग बरामदे में चली गयीं । एक भक्त अनेक खिले हुए गुलाब तथा जवा के फूल तथा सुन्दर जूही फूलों की माला, फल तथा मिठाई आदि लेकर आये थे। माँ के चरणों के नीचे वह सब रखकर उनके चरणों की पूजा करने लगे। वह एक सुन्दर दृश्य था। माँ सहास्य मुख स्थिर होकर बैठी थीं । गले में भक्त द्वारा प्रदत्त माला थी, श्री चरणों में जवा और गुलाब के फूल। पूजा खतम होने पर भक्त ने माँ को हर प्रकार के फल और मिठाई को ग्रहण कर प्रसाद कर देने की प्रार्थना की । गौरी माँ ने यह सुन हँसते हँसते कहा, "जबरदस्त भक्त से पाला पड़ा है माँ, अब खाओ।" माँ भी हँसते हँसते, "इतना नहीं, इतना नहीं – इतना नहीं खा पाऊँगी" – कहकर थोड़ा सा खा भक्त के हाथ में देने लगीं । भक्त ने प्रत्येक पदार्थ को सिर से लगाकर अवर्णनीय आनन्द में विभोर हो माँ को प्रणाम कर उनसे बिदा ली। माँ ने तब अपने गले की फूल माला गौरी माँ के गले में पहना दिया। चरणों में निवेदित फूलों को भक्त लोग ही सब ले गये।

भूदेव ने रथ तैयार किया है। ठाकुर को रथ में बिठाने की तैयारी हो रही थी । गौरी माँ को आश्रम में विशेष काम था, इसलिए वे जल्दी बिदा लेकर चली गयीं। सीढ़ी तक उनके साथ जाकर मैं माँ के पास लौट आयी।

बातचीत के बीच गौरी माँ की बात उठी । माँ ने कहा, "आश्रम के लड़कियों की वह बड़ी सेवा करती है। उनके बीमार पड़ने पर अपने ही हाथों से उनका मल मूत्र साफ करती है । संसार में उसे तो इस प्रकार का कार्य अधिक नहीं करना पड़ा, पर ठाकुर उससे सब करा लेंगे – यह उसका अन्तिम जन्म जो हैं।"

इस बार पास के कमरे में ठाकुर को रथ पर आरूढ़ किया गया। माँ तख्त पर बैठी हुई अपलक दृष्टि से उनको निहारती हुई बहुत आनन्द प्रकट करने लगीं। बाद में भूदेव और भक्त लोग ठाकुर को रथ के सहित उठाकर नीचे ले गए तथा रास्ते में, गंगा के किनारे रथ खींचकर संध्या होने पर फिर कमरे में ले आये। इस समय स्त्री भक्तों ने ऊपर के कमरे के भीतर रथ खींचा। उसके बाद माँ, राधू, नलिनी दीदी और मैंने रथ को खींचा। जो भी आता, माँ प्रसन्न हो उससे रथ की बात कहने लगतीं। भक्त महिलाएँ प्रसाद लेकर एक एक करके चली गयीं। रात में भोग-आरती के बाद माँ ने स्वयं थाली में प्रसाद लाकर मुझे दिया। उस दिन घर पहुँचते रात के ११ बज चुके थे।

जब सामने के रास्ते में रथ खींचा जा रहा था तो माँ कह रही थीं, "सब लोग तो जगन्नाथपुरी नहीं जा पाते हैं। जिन्होंने यहाँ (ठाकुर को रथ में) दर्शन किया उनका भी हो जायेगा।"

(क्रमशः)
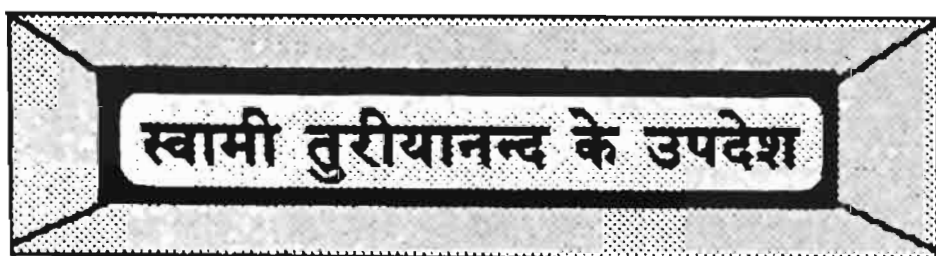
(बँगला पत्रों से संकलित तथा अनुदित)

– ४७ –

तुम सकुशल हो तथा तुमने अपने कार्य में दृढ़तापूर्वक लगे रहने का निश्चय किया है, यह जानकर आनन्दित हुआ। ठाकुरजी की कृपा से तुम अवश्य ही सफलता प्राप्त करोगे। तुम्हारी स्वाधीनतापूर्वक कार्य करने की इच्छा जानकर ही तो मैंने तुम्हें

स्वतंत्र रूप से कार्य करने को कहा था। अपनी रुचि के अनुरूप कार्य करने में लोग जितनी सुविधा अनुभव करते हैं, वैसा क्या दूसरों के अधीन रहकर कर सकते हैं ? आरम्भ में थोड़ा अकेलापन बोध होने पर भी बाद में क्रमशः इसका अभ्यास हो जाएगा और अन्य लोग भी तुम्हें सहयोग देंगे। 'लगे रहना' ही कर्तव्य है, और यह बड़ा ही कठिन है। परन्तु जैसे भी हो लगे रहने पर अन्त में व्यक्ति निश्चय ही कृतकृत्य हो जाता है। यह एक परखा हुआ सत्य है।

जितना भी हो सके, लोगों की भलाई करने का प्रयत्न करो। तुम्हारा उदाहरण देखकर और भी बहुत से लोग सीखेंगे। मन में कोई भी कामना न रखना। हृदय में नारायण-भाव को छोड़कर अन्य किसी भी भाव को स्थान न देना, इसी से सर्व प्रकार का कल्याण होगा। नाम-यश आदि सब भगवान को अर्पित करना। शरीर-मन के द्वारा जो सेवा कर पा रहे हो, इसके लिये प्रभु से कृतज्ञता प्रगट कर बारम्बार उनके श्रीचरणों में प्रणाम करना तथा निष्कपट भाव से यह प्रार्थना करना कि वे हृदय में रहकर सदा तुम्हें परिचालित करते रहें।

सभी महिलाओं को ब्रह्ममयी जगज्जननी की प्रतिमूर्ति जानकर यथाशक्ति उनकी सेवा करने से कोई भय न रह जाएगा। सावधान! देखना मातृभाव को छोड़कर किसी दूसरे भाव का उदय न हो। तुम्हारे व्यवहार के बारे में जब सभी को ज्ञान हो जाएगा, तब कोई भी इस कारण दुःखी या नाराज न होगा, बल्कि प्रसन्न ही होगा।

— ४८ —

सत्त्वगुण अनामय अर्थात निर्विकार, शान्त इत्यादि है यह सत्य है, परन्तु ऐसे सभी लोग तो सत्त्वगुणसम्पन्न नहीं हैं। जो लोग तमोगुण में पड़े हुए हैं, उन्हें रजोगुण से होकर सत्त्वगुण में पहुँचना होगा, और रजोगुणी व्यक्ति भी रजोगुण पर विजय पाकर सात्त्विक

हो सकेंगे। शुद्ध सत्त्वगुण निर्विकार है, रजोगुण श्रमात्मक है तथा तमोगुण मोहात्मक है। सिर्फ इतना जान लेने मात्र से ही न होगा, बल्कि अपने में सत्त्वगुण की वृद्धि करनी होगी।

साधन-भजन आदि कर्म भी यदि अति परिश्रम से किया जाय तो उपकार के बदले अपकार ही होता है। यह बात सत्य है और इसीलिए गीतादि शास्त्रों में "शनैः शनैरुपरमेत्"[१], "युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु"[२] – इत्यादि उपदेश हैं।

अधिक परिश्रम उचित नहीं, तो 'जैसा चलता है, चलने दो' ऐसा ढीलापन भी ठीक नहीं। बल्कि मैं इस शरीर में ही मुक्त होऊँगा – ठाकुर ऐसा उत्साह बनाए रखने का उपदेश देते थे। किसी व्यक्तिविशेष को निरुत्साह देखकर ठाकुर उसको जो कह रहे हैं, वह सभी के लिए उपयुक्त होगा, ऐसा समझना ठीक नहीं। नियमित रूप से साधन-भजन करना, केवल स्वामीजी का ही क्यों, सभी का मत है। बुद्धदेव की बात और क्या कहूँ ? उन्होंने ही तो कहा था – "इहासने शुष्यतु मे शरीरं, त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु"[३] इत्यादि अर्थात् इसी आसन पर भले ही मेरा शरीर सूख जाय, त्वचा, अस्थियाँ, मांस आदि विलय हो जायँ; पर मैं बहुकल्पदुर्लभ बोधि को प्राप्त किए बिना इस आसन से नहीं उठूँगा। बुद्धदेव की कठोर तपस्या सम्बन्धी बातों की क्या जरूरत ? इसी प्रकार बहुतों को होता है। तात्पर्य यह कि जिन लोगों ने कुछ उपलब्धि की है, उन सभी ने प्राणपाती साधना के द्वारा ही की है। "सनातन कृष्ण-धन क्या सहज ही मिल जाता

---

१ धीरे धीरे मन का निरोध करना चाहिए। गीता ६/१७

२. परिमित आहार और विहार करनेवाले का और कर्म में नियमित प्रयास करनेवाले का। गीता ६/१७

३. इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात्कायमतश्चलिष्यते॥ ललितविस्तर अ ९

है?" – यह चैतन्यदेव का कथन है। हरिदास आदि की नाम-साधना के बारे में जानते ही हो। रात-दिन कैसे बीत जाते थे! सनातन गोस्वामी के भजन का विवरण पढ़कर देखो। देखो, भगवान के लिए उन्होंने क्या किया। शरीर तो चिरस्थायी नहीं है, एक न एक दिन नष्ट होगा ही। यदि साधन-भजन के द्वारा नष्ट हो तो अहो भाग्यम्! परन्तु न कर पाने पर वही बात – 'सर्वमत्यन्तगर्हितम्।[४] यह भला कैसे कहें कि नहीं कर सका। मैं तो सौ बार कहूँगा कि भगवद्-भजन में शरीर पात करने से बड़ा और दूसरा कुछ भी नहीं।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-
भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।[५]

– ऐसा पतंजलि योगसूत्र के समाधिपाद में लिखा है।

स्यात्कृष्णनामचरितादिसितापविद्यापित्तोपदुष्टरसनस्य न रोचकैव।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सेवयैव स्वादी पुनर्भवति तद्गदमूलहन्त्री।

– जिनकी जिह्वा अज्ञानरूपी पित्तदोष से दूषित हो चुकी है, उन्हें कृष्णनाम व चरितादिरूपी शर्करा अच्छी न भी लग सकती है; परन्तु प्रतिदिन उसका सेवन करने से क्रमशः उसमें स्वाद आने लगता है और उसी के द्वारा वह पित्तरोग भी दूर हो जाता है।

प्रभु की कृपा से तुम लोग उनके कार्य में मन, प्राण अर्पित कर पूर्ण रूप से उन्हीं में मग्न हो जाओ, तुम्हारा जीवन धन्य हो जाए, उनसे मैं यही प्रार्थना करता हूँ। तुम लोग भला चिन्ता क्यों करते हो? प्रभु तुम्हारा सब ठीक कर देंगे।

---

४. अतिदर्पे हता लंका अतिमाने च कौरवाः।
अतिदाने बलिर्बद्धः सर्वमत्यन्तगर्हितम्॥ चाणक्य ४८

५. रोग, मानसिक जड़ता, सन्देह, उद्यमशून्यता, आलस्य, विषय-तृष्णा, मिथ्या अनुभव, एकाग्रता न हो पाना और हो पाने पर भी उसका न ठहरना – ये जो चित्त के विक्षेप हैं, वे ही विघ्न हैं। पातञ्जलयोगदर्शन, समाधिपाद, सूत्र ३०

रामकृष्ण मिशन के वार्षिक प्रतिवेदन का सार-संक्षेप

रामकृष्ण मिशन की ८४वीं वार्षिक आम बैठक १९ दिसम्बर १९९३, रविवार शाम ३.३० बजे बेलुड़ मठ में सम्पन्न हुई। रामकृष्ण मिशन के उपाध्यक्ष स्वामी गहनानन्दजी महाराज की अध्यक्षता में बैठक की कार्यवाही हुई। मिशन की प्रबंध-समिति के १९९२-९३ के प्रतिवेदन की संक्षिप्त रूपरेखा जो सदस्यों के सामने प्रस्तुत की गई, वह इस प्रकार है।

उपरोक्त काल के दौरान हुए विकास कार्यों में अन्दमान में स्थित पोर्टब्लेयर तथा पश्चिमी बंगाल के सिकराकुलीन ग्राम में खोले गए नवीन केन्द्रों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया। राजमन्ड्री केन्द्र में एक दातव्य एलोपैथी दवाखाना तथा विशाखापट्टनम केन्द्र में विशेषज्ञ परामर्शदात्री चिकित्सा-सेवा का शुभारम्भ किया गया। मानवतावाद के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान के लिए मिशन को जी.डी. बिड़ला राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। पुरुलिया स्थित विद्यापीठ को भी राष्ट्रपति द्वारा सन् १९९२ के लिए शिशु-कल्याण राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया।

विविध कार्यकलाप : मिशन ने देश के विभिन्न भागों में व्यापक स्तर पर राहत कार्य एवं पुनर्वास का उत्तरदायित्व लिया, जिसमें कुल ४५ लाख रुपये व्यय हुए। जनहितकर कार्यों के अन्तर्गत निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति और वृद्ध व असहाय लोगों को आर्थिक सहायता पहुँचाने में लगभग १.३१ करोड़ खर्च किया गया। इसके अतिरिक्त ९ अस्पतालों तथा ७९ औषधालयों के माध्यम से ४४ लाख रोगियों की चिकित्सा हुई, जिसमें लगभग ८.६१ करोड़ रुपये व्यय हुए।

मिशन के शैक्षणिक संस्थाओं के परीक्षा-परिणाम पूर्ववत ही उत्कृष्ट रहे। देश में स्थित रामकृष्ण मिशन के विभिन्न संस्थाओं

द्वारा लगभग १.६९ लाख छात्रों को शिक्षा दी गई और इस मद में २८ करोड़ से भी अधिक रुपये व्यय हुए। मिशन ने ग्रामीण तथा आदिवासी विकास परियोजनाओं में भी लगभग ३ ३६ करोड़ रुपये खर्च किए।

बेलुड़ मठ में स्थित मुख्यालय के अतिरिक्त विश्व में मठ एवं मिशन के कुल ८१ तथा ७६ केन्द्र कार्यरत हैं। विदेश के केन्द्र मुख्यत: आध्यात्मिक अनुष्ठान एवं सांस्कृतिक कार्यों में निरत हैं।

स्वामी आत्मस्थानन्द
महासचिव

रामकृष्ण मिशन आश्रम, फीजी द्वीप १९९२ ई. का संक्षिप्त प्रतिवेदन

१ जनवरी को कल्पतरु दिवस के शुभ अवसर पर आश्रम में एक आध्यात्मिक शिविर का आयोजन हुआ। पूरे वर्ष दैनन्दिन पूजा, भजन तथा सत्संग के कार्यक्रम चलते रहे। पिछले वर्षों के समान ही बालकों के लिए साप्ताहिक कक्षाएँ, शनिवार की शाम को ध्यान की कक्षाएँ तथा रविवार को प्रात: ९.३० से मध्याह्न १२.३० बजे तक गीता, श्रीमद्‌भागवत, श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, माँ श्रीसारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश आदि विषयों पर कक्षाएँ हुईं। प्रति सोमवार की शाम नियमित रूप से तुलसी रामायण पर प्रवचन हुए।

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द की जन्मतिथियों पर विशेष पूजा एवं तत्सम्बन्धी आम सभाओं के आयोजन हुए। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि, गुरुपूर्णिमा, नवरात्रि दुर्गापूजा, क्रिसमस इव और पैगम्बर मुहम्मद के जन्मदिन के अवसरों पर भी आश्रम में कार्यक्रम हुए।

इस दौरान मठ व मिशन के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज का फीजी तथा आस्ट्रेलिया आगमन हुआ। उन्होंने स्थानीय शिक्षा मंत्री की उपस्थिति में श्री विवेकानन्द हाई स्कूल के नये सभागार का उद्‌घाटन किया। उन्होंने नादी में ६५ तथा राजधानी सुवा में १४ भक्तों को दीक्षा प्रदान की। अपने आस्ट्रेलिया के दौरे में श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी तथा स्वामी दामोदरानन्दजी वहाँ ब्रिसबेन, सिडनी, कैनबरा, मेलबोर्न, एडलेड तथा पर्थ में विभिन्न वेदान्त केन्द्रों में गए। आस्ट्रेलिया में भी कुछ भक्तों ने दीक्षा ली।

यहाँ नादी नगर में श्री विवेकानन्द हाईस्कूल तथा नवईकोबा ग्राम में ग्रामीण विकास विद्यालय मिशन द्वारा चलाए जा रहे हैं, जिनमें छात्र/छात्राओं की संख्या ४८३/५३१ तथा २८ है। मिशन के पुस्तकालय तथा वाचनालय में कुल २८५२ पुस्तकें हैं और २ दैनिक तथा २८ नियतकालिक पत्रिकाएँ आती हैं। ग्रन्थालय के धार्मिक व सांस्कृतिक विभाग, माध्यमिक विद्यालयों के लिए पाठ्यपुस्तक विभाग और प्राथमिक विद्यार्थियों के लिए सामान्य विभाग सुचारु रूप से कार्यरत रहे। १२ जनवरी को राष्ट्रीय युवा दिवस के अवसर पर आश्रम में कुछ कार्यक्रम आयोजित किये गये, जिनमें अनेक स्थानीय युवकों तथा भक्तों ने भाग लिया।

नादी नगर के समीप बसे निर्धन भूमिहीन लोगों को सहायता पहुँचाने के लिए मिशन ने एक नई परियोजना शुरू की है। इसके तहत अभावग्रस्त लोगों के बीच अन्न, दवाएँ, धन तथा पुराने कपड़ों का वितरण किया जाता है। स्कूल जानेवाले बच्चों को आवश्यकतानुसार किताबें, यूनीफार्म आदि उपलब्ध कराये जाते हैं। भक्त-महिलाओं द्वारा गठित माँ सारदा सेवा समिति ने भी आश्रम के विविध क्रियाकलापों में हाथ बँटाया।

स्वामीजी के शिकागो अभिभाषण की शताब्दी - १८९३ ई. में शिकागो में सम्पन्न धर्ममहासभा में स्वामीजी के योगदान की शताब्दी मनाने के लिए हमने फीजी, न्यूजीलैंड तथा आस्ट्रेलिया में विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किए।

इस सिलसिले में हमने रामकृष्ण मिशन, लखनऊ के स्वामी श्रीधरानन्दजी को आमंत्रित किया गया था। वे २ जून (९३) को फीजी पहूँचे और उन्होंने फीजी के महत्वपूर्ण नगरों तथा कस्बों में स्वामीजी के व्यावहारिक सन्देश पर हिन्दी तथा अंग्रेजी में व्याख्यान दिये।

पहला कार्यक्रम श्री विवेकानन्द हाईस्कूल में हुआ, जिसमें एक हजार से भी अधिक छात्रों ने भाग लिया। इसकी अध्यक्षता फीजी के मेथाडिस्ट मिशन के भूतपूर्व अध्यक्ष रेवरेण्ड पाला निउकुला ने की। सर्वत्र लोगों ने, और विशेषकर फीजी के छात्र-समुदाय ने इन व्याख्यानों का हार्दिक स्वागत किया।

उनके इस आगमन का लाभ उठाकर श्रीरामकृष्ण के वार्षिक जन्मोत्सव से सम्बन्धित एक दिन के साधना-शिविर का भी आयोजन किया गया। यह शिविर समुद्र में स्थित एक सुदूर द्वीप में लगाया गया। ऐसा शिविर पहली बार लगाया गया था और भक्तों ने इसका काफी आनन्द लिया।

तदुपरान्त वे स्वामी दामोदरानन्द के साथ न्यूजीलैण्ड गये और वहाँ उन्होंने इस शताब्दी के अवसर पर वेलिंगटन तथा ऑकलैण्ड में आयोजित तीन जनसभाओं में व्याख्यान दिये। कैनबरा में वेदान्त के अनुरागियों ने एक धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया था, जिसमें विभिन्न धर्मों के अन्य प्रतिनिधियों के साथ ही इन दो संन्यासियों के भी व्याख्यान हुए।